वर्ष : 45
अंक : 2

अप्रैल - जून 2024

मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

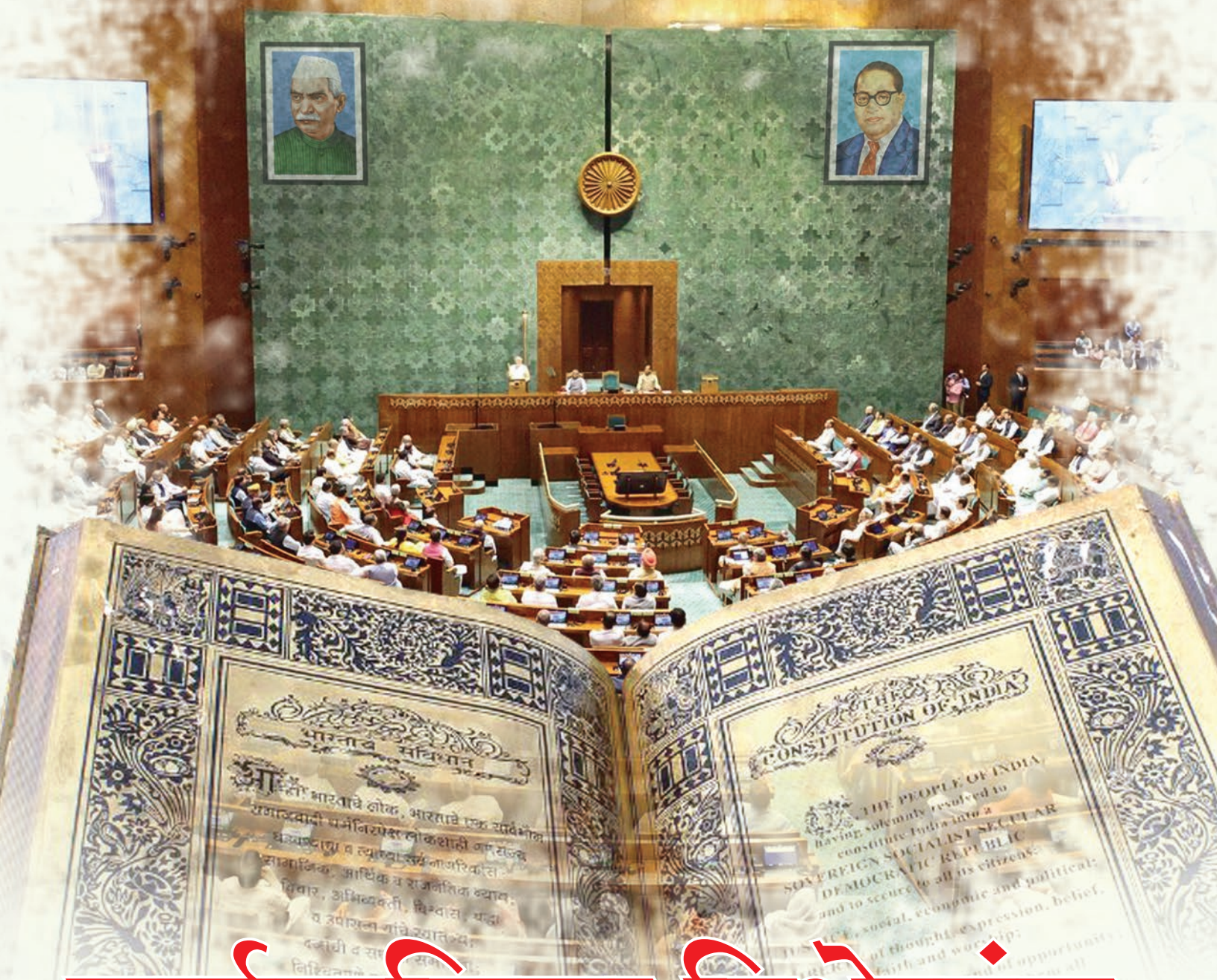

कार्यपालिका विशेषांक

प्रभात प्रकाशन

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

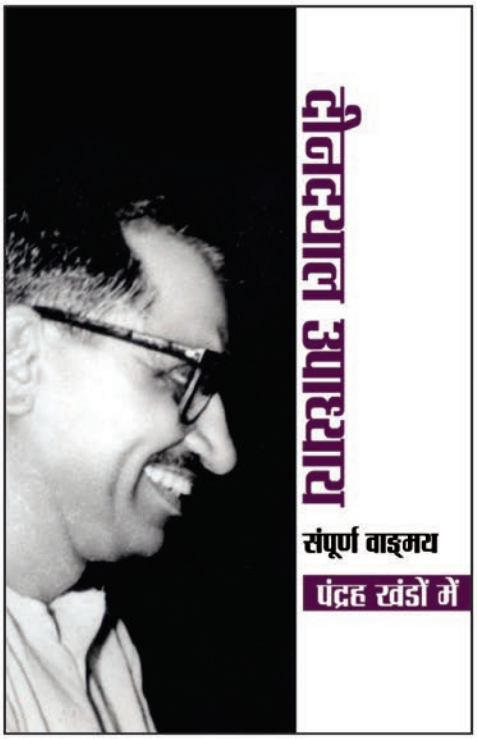

दीनदयाल उपाध्याय

संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

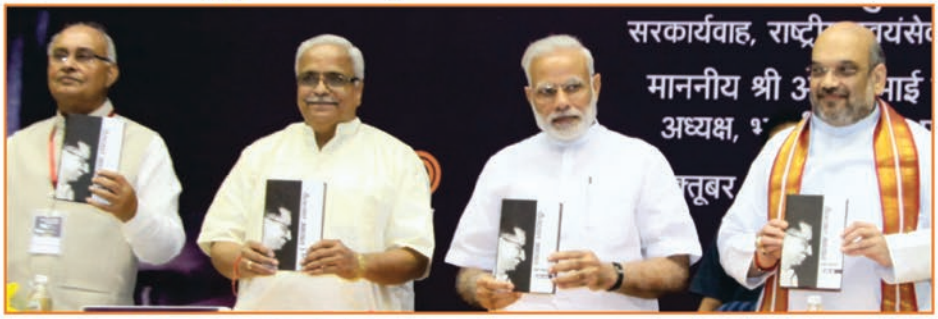

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

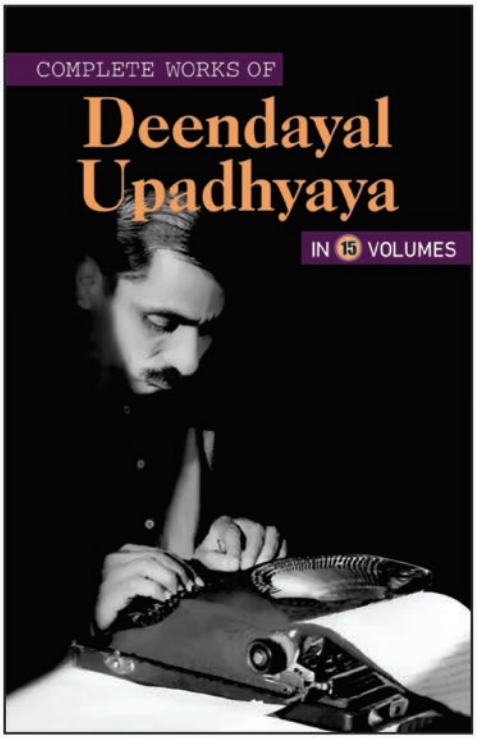

COMPLETE WORKS OF DEENDAYAL UPADHYAYA

(Set of 15 Volumes)

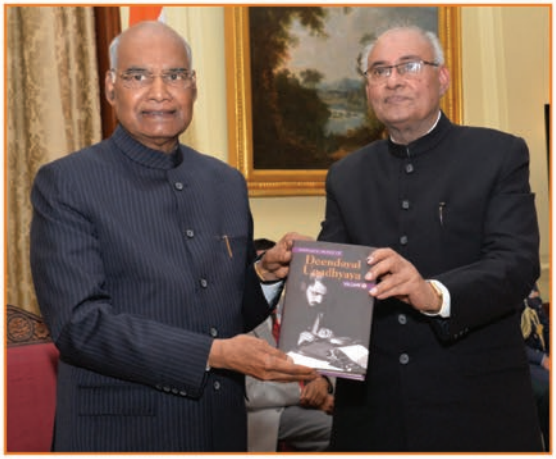

11 फरवरी, 2019 को भारत के राष्ट्रपति मान. श्री राम नाथ कोविंदजी को 'Complete Works of Deendayal Upadhyaya' की प्रथम प्रति भेंट करते हुए प्रधान संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23289777
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23210074
इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

आरएनआई 32486/78 आईएसएसएन 2582-4481

₹ 200/-

अतिथि संपादक
श्री रामबहादुर राय

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
प्रो. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

विशेषज्ञ संपादक मंडल
प्रो. सुनील के. चौधरी
प्रो. शीला राय
डॉ. चन्द्रपाल सिंह
डॉ. सीमा सिंह
डॉ. राजीव रंजन गिरी
श्री प्रदीप देसवाल
डॉ. प्रदीप कुमार
डॉ. चन्दन कुमार
डॉ. राहुल चिमूरकर
डॉ. महेश कौशिक

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 45, अंक : 2 अप्रैल–जून 2024

कार्यपालिका विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91-9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitscopy@gmail.com

मुद्रण
ओसियन ट्रेडिंग को.
132, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन सामाजिक एवं अकादमिक सक्रियता को समर्पित एक बहुअनुशासनिक, समकक्षी समीक्षित, शैक्षणिक एवं विषयवस्तु केंद्रित शोध पत्रिका है, जो त्रैमासिक आवृत्ति से वर्ष में चार बार प्रकाशित होती है। यह हर बार किसी एक विशिष्ट विषयवस्तु पर केंद्रित होती है। यह मानविकी के विभिन्न अनुशासनों में शोधरत लेखकों के मौलिक शोधलेखों का स्वागत करती है।

सर्वाधिकार © एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान। सर्वाधिकार सुरक्षित।

अस्वीकरण: एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान प्रतिष्ठान अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त सूचनाओं एवं तथ्यों की परिशुद्धता एवं सटीकता सुनिश्चित करने के लिए सभी संभव प्रयास करता है। फिर भी अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त विषयवस्तु की परिशुद्धता, पूर्णता एवं उपयुक्तता के संबंध में कोई वचन नहीं देता और न ही इस संबंध में कोई अभिवेदन देता है। इन प्रकाशनों में अभिव्यक्त विचार एवं दृष्टि लेखकों की है; आवश्यक नहीं है कि एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान इनसे सहमत हो।

प्रकाशक

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

दूरभाष : 011–23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	अतिथि संपादक की कलम से		05
4.	क्या भारत के प्रधानमंत्री समकक्ष लोगों में प्रथम हैं?	डॉ. रजनी रंजन झा	10
5.	राष्ट्रपति : संवैधानिक और व्यावहारिक स्थिति के बीच द्वंद्व	डॉ. डी.डी. पटनायक	19
6.	कार्यपालिका शक्ति का विस्तार और लोक क्षेत्र का संकुचन : एक अनुशीलन	प्रो. विश्वनाथ मिश्र	27
7.	नौकरशाही : एक साम्राज्यवादी संस्था	डॉ. चंद्रपाल सिंह	31
8.	कार्यपालिका की अवधारणा : भारतीय परंपरा एवं हमारा संविधान	प्रो. संजीव कुमार शर्मा डॉ. चंचल	37
9.	नागरिक एवं सैन्य तैयारी कां संतुलन: भारत का अनुभव	डॉ. मनोज के झा	43
10.	भारत में संसदीय शासन के सात दशक	डॉ. राहुल चिमुरकर	46
11.	कार्यपालिका: प्रतिपक्ष और जनसहभागिता	भानु कुमार	52
12.	सहकारी से प्रतिस्पर्धी और सहयोगात्मक संघवाद की ओर	प्रो. रेखा सक्सेना	60
13.	73वाँ संविधान संशोधन विधायन और कार्यान्वयन	मनोज कुमार श्रीवास्तव	69

लेखकों का परिचय

रामबहादुर राय पद्मश्री से सम्मानित। *हिंदुस्तान समाचार* के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के अध्यक्ष। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। संपर्क : rbrai118@gmail.com

डॉ. रजनी रंजन झा (जन्म 1951) एम.ए., पीएच.डी., प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। इसके अलावा सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेंट्स, बी.एच.यू., के निदेशक; 1993 से केनेडियन स्टडीज डेवलपमेंट प्रोग्राम के निदेशक रहे हैं। फैकल्टी रिसर्च एवं फैकल्टी डेवलपमेंट पुरस्कार प्राप्तकर्ता; एसआईसीआई में लाइब्रेरी कमेटी के अध्यक्ष; साल्जबर्ग सेमिनार, 1993 के फेलो; इंटनेशनल विजिटर ग्रांटी, मैसन डेस साइंसेज डेल होम ऐंड स्टॉकहोम यूनिवर्सिटी, स्वीडेन के विजिटिंग स्कॉलर रहे हैं। प्रो. झा की शैक्षणिक रुचियों में केनेडियन अध्ययन के अलावा लोकपाल अध्ययन, संघ, राज्य एवं स्थानीय निकाय तथा भारत की राजनीति भी शामिल हैं।

डॉ. डी.डी. पटनायक (पीएचडी, डी. लिट), इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च, नई दिल्ली के पूर्व सदस्य हैं। हिंदू नेशनलिज्म इन इंडिया (चार खंडों में), इंडियन पोलिटिकल ट्रडिशन, पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ सुभाष चंद्र बोस, कल्चरल नेशनलिज्म इन इंडियन पर्सपेक्टिव, टुवर्डस पोलिटिकल थियरी ऑफ इंडियन नेशन, इंडियन फ्रीडम स्ट्रगल : अ नेशनलिस्ट वर्ल्ड व्यू, ग्लॉसरी (इंटीग्रल ह्यूमनिज्म) आदि प्रमुख कृतियों के अलावा एक दर्जन से अधिक कृतियों में सह-लेखक के रूप में शामिल। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में 200 से अधिक लेख प्रकाशित। साहित्य-संस्कृति से जुड़े कई संगठनों द्वारा सम्मानित।

प्रो. विश्वनाथ मिश्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अंतर्गत आर्य महिला पीजी कॉलेज में समकालीन राजनैतिक सिद्धांत एवं अंतरराष्ट्रीय संबंध के आचार्य हैं। उनकी पाँच महत्त्वपूर्ण कृतियों में शामिल हैं - भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद और नृजातीयता, राजविद्या एवं राजनीति शास्त्र, पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, हिंसा का उत्खनन, तथा सनातन गांधी: बापू से वैश्विक संवाद।

डॉ. चंद्रपाल सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के पीजीडीएवी कॉलेज में इतिहास के शिक्षक। 'भगत सिंह रीविजिटेड: हिस्ट्रियोग्राफी, बायोग्राफी ऐंड आइडियोलॉजी ऑफ द ग्रेट मार्टायर' (2011) तथा 'नेशनल एजुकेशन मूवमेंट: अ सागा फॉर क्वेस्ट फॉर आल्टरनेटिव्ज टु कोलोनियल एजुकेशन' (2012) प्रकाशित। आपकी शोधरुचियों में क्रांतिकारी आंदोलन और शिक्षा के इतिहास के अलावा भारतीय संविधान का उद्गम एवं निर्माण तथा जनगणना अध्ययन भी समाविष्ट हैं।

प्रो. संजीव कुमार शर्मा भारतीय राजनीति विज्ञान परिषद के दशकाधिक अवधि राष्ट्रीय महासचिव एवं कोषाध्यक्ष, दि इंडियन जर्नल आफ पोलिटिकल साइन्स तथा भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका के पूर्व संपादक तथा राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के सम्प्रति आचार्य व अध्यक्ष हैं। वह महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी के कुलपति रह चुके हैं। वे प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य और राजनीतिक चिन्तन की भारतीय दृष्टि के अध्येता हैं। वे विगत 38 वर्षों से शिक्षण, अनुसंधान, व प्रशासन में संलग्न हैं।

डॉ. चंचल प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की गम्भीर अध्येता हैं। चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उत्तर प्रदेश) से राजनीति विज्ञान में परास्नातक, विद्या निष्णात तथा विद्या वाचस्पति तथा विधिस्नातक की उपाधि प्राप्त डॉ० चंचल ने भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली की पोस्ट डॉक्टोरल फैलोशिप प्राचीन भारत में लोक कल्याण विषय पर पूर्ण की है। सम्प्रति वे स्वतन्त्र अनुसन्धानकर्ती हैं।

डॉ. मनोज कुमार झा को शैक्षिक नवोन्मेष का 25 वर्ष से अधिक का अनुभव है। वे बेसिक्स एजूकेशन के संस्थापक हैं। उन्होंने आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस पर अध्ययन के लिए विट्टी रिसर्च फाउंडेशन की स्थापना भी की है।

डॉ. राहुल चिमुरकर दिल्ली विश्वविद्यालय के देशबंधु कॉलेज में राजनीति विज्ञान विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। उनके शोध लेख कई समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिकाओं में छप चुके हैं। उनकी विशेषज्ञता तथा रुचि के क्षेत्र हैं - भारतीय शासन एवं राजनीति, राजनैतिक विचार एवं शासन। उनके हाल में प्रकाशित कार्यों में सेज से प्रकाशित पुस्तक 'पटेल : पोलिटिकल आइडियाज ऐंड पॉलिसीज' शीर्षक पुस्तक में एक अध्याय 'पटेल ऐंड एक्सेशन ऑफ जम्मू ऐंड कश्मीर' तथा रावत पब्लिकेशन से आई पुस्तक 'ट्राइबल लिवलीहुड ऐंड गवर्नेंस: रीजनल कंसर्न्स' में एक अध्याय 'लोकल गवर्नेंस इन फिफ्थ शेड्यूल्ड एरियाज: अ स्टडी ऑफ इम्प्लीमेंटेशन ऑफ पेसा 1996 इन बीजापुर डिस्ट्रिक्ट ऑफ छत्तीसगढ' शामिल हैं।

भानु कुमार पीएचडी रिसर्च स्कॉलर, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय। दिसंबर 2017 से फरवरी 2020 तक हिंदुस्थान समाचार में रिसर्च एसोसिएट पद पर कार्य करते हुए वार्षिकी 2018 एवं 2019 का संपादन किए। साथ ही संस्कृतिक क्षेत्र से जुड़े काशी फाउंडेशन के संस्थापक सदस्य भी है।

प्रो. रेखा सक्सेना राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। सेंटर फॉर मल्टीलेवल फेडरलिज्म की अवैतनिक उपाध्यक्ष और फोरम ऑफ फेडरेशंस कनाडा की अवैतनिक वरिष्ठ सलाहकार हैं। उनकी दर्जन भर से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।
संपर्क: rekhasaxenadu@gmail.com, Mob: 9811338591

मनोज कुमार श्रीवास्तव अवकाश प्राप्त आईएएस हैं। उन्होंने मध्य प्रदेश के विभिन्न जिलों एवं संभागों में जिला कलेक्टर और कमिश्नर तथा मध्य प्रदेश सरकार में मुख्य सचिव के तौर पर कार्य किया है। उन्होंने कुल 39 पुस्तकों का प्रणयन किया है, इनमें 18 का प्रकाशन 'सुंदरकांड: एक पुनर्पाठ' शृंखला के अंतर्गत हुआ है और 10 कविता संग्रह हैं। उन्होंने विभिन्न देशों में रामकथा एवं भारतीय पौराणिक साहित्य पर कई व्याख्यान दिए हैं। साहित्य में योगदान के लिए इन्हें कई पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हो चुके हैं। संप्रति वे अक्षरा पत्रिका के मुख्य संपादक हैं।

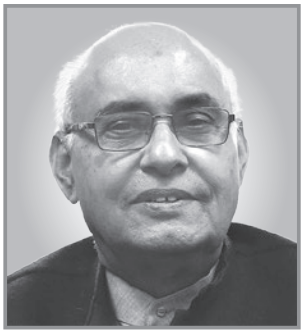

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

वर्ष 2024 के प्रथमांक 'विधायन अंक' के बाद अप्रैल-जून का यह द्वितीय अंक 'कार्यपालिका अंक' आपके हाथों में है। अनुसंधानकर्ता विद्वतजनों के सक्रिय सहयोग से इन अंकों का नियोजन हम कर पा रहे हैं। मैं सभी शोधकर्ताओं व वरिष्ठ अकादमिक विद्वानों के प्रति आभारी हूँ।

विभिन्न अंकों में हमें योग्य मार्गदर्शक अतिथि संपादक प्राप्त होते हैं, परिणामतः अंकों के विषयवस्तु से कुछ न्याय हो पाता है। इस अंक के अतिथि संपादक आदरणीय श्री रामबहादुर राय हैं। हालांकि उन्हें अतिथि कहना समुचित नहीं है, उनके निरंतर मार्गदर्शन से ही मंथन ने यह स्वरूप ग्रहण किया है। इस अंक के सभी आलेखों का अवगाहन कर तथा लेखकों से भी समुचित वार्ताएँ करते हुए उन्होंने **'राजधर्म के प्रश्न'** एक सांगोपांग **'अतिथि संपादकीय'** लिखा है, अतः यह संपादकीय महज एक औपचारिकता है। इस अंक को समझने के पूर्व राय साहब द्वारा लिखा गया संपादकीय पढ़ना जरूरी है।

भारत की कार्यपालिका का विस्तृत वितान है, क्रमशः वह विस्तार प्राप्त करता ही जा रहा है। कभी कभी लगता है कि विधानपालिका अब दोयम दर्जे पर पहुँच गई है तथा कार्यपालिका एवं न्यायपालिका आमने-सामने आ गई हैं। कार्यपालिका की इस प्रवृत्ति व प्रकृति को इस अंक के सुधी लेखकों ने बखूबी रेखांकित किया है।

राष्ट्रपति एवं सुरक्षाबल कार्यपालिका के बहुत ही संवेदनशील अंग हैं, इनके बारे में लिखने वालों को भी मर्यादाओं का पालन करना होता है। हमारी संसदीय कार्यपालिका वस्तुतः प्रधानमंत्री की धुरी पर घूमती है। राष्ट्रपति, सैन्य बल एवं प्रधानमंत्री इन सभी विषयों को मंथन के इस अंक ने आकलित किया है।

कार्यपालिका में नौकरशाही का मुद्दा एक गहरे विवाद का मुद्दा है। क्या हमारी नौकरशाही उपनिवेशकालीन प्रशासन की निरंतरता की वाहक है? जन-प्रतिनिधियों एवं नौकरशाही के संबंधों को लेकर भी तनाव रहता है। कार्यपालिका पर लगने वाले भ्रष्टाचारों के आरोपों को भी तब तक विवेचित नहीं कर सकते जब तक हम विभागीय मंत्रियों एवं नौकरशाही के संबंधों को न समझ लें।

सात दशकों के खट्टे-मीठे अनुभवों के बाद हम यहाँ तक पहुँचे हैं। मंथन के माध्यम से हमने पहले विधानपालिका को समझने का प्रयत्न किया, इस अंक में हम कार्यपालिका का विवेचन कर रहे हैं। अगला अंक न्यायन या न्यायपालिका विशेषांक होगा।

आपके सुझावों व प्रतिसादों का निरंतर स्वागत है। शुभम्।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

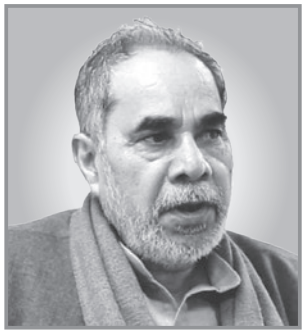

रामबहादुर राय

अतिथि संपादक की कलम से

राजधर्म के प्रश्न

पत्र-पत्रिकाओं की तात्कालिकता से थोड़ा परे और भिन्न 'मंथन' के अंकों की एक श्रृंखला चली आ रही है। यह हम जानते हैं हर शृंखला का एक सुनिश्चित प्रयोजन होता है। उसमें निर्धारित विषय पर शोधपरक आलेख हों, यह लक्ष्य रहता है। जिसमें वैचारिक गहराई हो। यह प्रयास रहता है कि हर आलेख में इस प्रकार छानबीन की जाए कि हर आयाम को समेटा जा सके। इस तरह उस विषय को समग्रता में प्रस्तुत करने के लिए लेखकों का चयन और उनसे कई बार बातचीत की एक प्रक्रिया अपनाई जाती है। इससे आलेखों की रूपरेखा का निर्धारण होता है। हर आलेख की चेष्टा यह पहचानने की होती है कि वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, उनका वैचारिक पक्ष क्या है, लक्ष्य क्या है और उसमें कितना सृजन का तत्त्व है, कितना विलोमी तत्त्व है और उनसे एक नागरिक किस प्रकार की अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सकेगा। हालाँकि ऐसा तभी संभव है जब उसमें जिज्ञासा का भाव हो। 'मंथन' यह मानकर चलता है कि उसके पाठक जिज्ञासु हैं और सकारात्मक परिवर्तन में उत्सुक हैं। जिन बातों का यहाँ उल्लेख आया है, स्वाभाविक रूप से यह कार्य संपादक करते हैं।

यह अंक भी एक शृंखला में है। जिसके बारे में पिछले अंक में संपादक ने सूचना दी थी। वह अंक विधायन पर था। यह कार्यान्वयन पर है। इस अंक की रचना में भी स्पष्टतया एक प्रयोजन है। जिसका संबंध संवैधानिक व्यवस्था से है। संविधान में शक्तियों का जहाँ विभाजन स्पष्ट है, वहीं एक संतुलन भी बनाया गया है। संविधान ने शक्तियों का सृजन किया है और उनमें संतुलन रहे, इसके प्रावधान किए हैं। भारतीय मानस इस शक्ति संतुलन से बखूबी परिचित है। सच तो यह है कि यह हमारे रक्त प्रवाह जैसा है और चेतना का अंग है। संविधान से एक शक्ति निकली, जिसे के रूप में कार्यपालिका नाम मिला हुआ है। जिसे हम कार्यपालिका कहते हैं, जिसे कार्यपालिका जानते हैं और जिसे कार्यपालिका के रूप में हम पहचानते हैं, उसका व्यक्तित्व क्या है? इस पर विचार करेंगे, तो साफ हो जाएगा कि संसदीय प्रणाली में निर्वाचित प्रतिनिधियों से कार्यपालिका का शिखर निर्मित होता है। लेकिन मात्र शिखर ही कार्यपालिका नहीं है। फिर क्या है और उसका आधार कहाँ है, यह सब जानने और समझने के लिए 'मंथन' का यह अंक सहायक है। इससे यह जानना संभव है कि कार्यान्वयन की आधारभित्ति एक है, उसे देखने के ढंग अलग-अलग हैं।

संविधान आधारभित्ति प्रदान करता है। एक संवैधानिक व्यवस्था बनाता है। जिसमें उन सिद्धांतों का उल्लेख रहता है जिन्हें व्यवहार में लाया जाना है। एक अर्थ में संविधान स्वयं एक सिद्धांत है। एक शास्त्र भी है। लेकिन संविधान उस रूप में शास्त्र नहीं है, जिस रूप में हम शास्त्र के वचन को जानते हैं। शास्त्र पर कुछ धर्मों में टीका संभव है, लेकिन कुछ में टीका निहायत वर्जित है। संविधान एक ऐसा शास्त्र है जिसकी टीका पर टीका होती रहती है। अध्येता साहित्यकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी एक शास्त्र की टीका को मंदिर की घंटी बताते थे और कहते थे कि हर आस्थावान मंदिर में प्रवेश करने से पहले घंटी जिस तरह बजाता है वैसे ही विद्वान लोग उस शास्त्र की टीका करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

शास्त्र धर्म की प्रस्तुति है। टीका उसकी व्याख्या है। संविधान श्रेष्ठ वही होगा जो धर्म आधारित

हो। लेकिन संविधान धर्म की स्थापना के लिए नहीं होता है, हालांकि धर्म उसमें रक्त प्रवाह की तरह रहता ही है। संविधान राज-काज के लिए बनाया जाता है। राज-काज का संबंध राजनीति से है। अगर धर्म सत्य की खोज है तो राजनीति में विजय ही सत्य माना जाता है, सत्य होता नहीं है। प्रश्न यहाँ यह है कि कार्यान्वयन में धर्म अपने अनंत अर्थों में कसौटी कैसे बने? यह भारतीय चिंतन की दिशा रही है। यही अपेक्षा की जाती है कि इस दिशा में न कोई भ्रम हो और न भ्रामक धारणाएँ हों। इसीलिए जिसे आजकल विमर्श कहते हैं वह कभी शास्त्रार्थ कहा जाता था। विमर्श रूपी वचन बड़ा क्रांतिकारी है। 'मंथन' विमर्श का ही पर्याय है। इस पर हम विचार करें, तो बहुत सी बातें साफ हो सकती हैं।

पहली बात यह कि कार्यान्वयन का दूसरा नाम हो सकता है, राजधर्म। इसे आज समझने में अगर किसी को अड़चन है, तो हमें डॉ. पांडुरंग वामन काणे की पुस्तक-'धर्मशास्त्र का इतिहास'[1] से मदद लेनी चाहिए। डा. काणे ने अपनी प्रस्तावना में तीन बातों का उल्लेख किया है। एक, "अति प्राचीन काल से धर्मशास्त्र के अंतर्गत राजधर्म की चर्चा होती रही है।...महाभारत के शांति पर्व में विस्तार के साथ राजधर्म पर विवेचन उपस्थित किया गया है।' दो, 'शासन की कला एवं उसके शास्त्र पर ईसवी सन् की कई शताब्दियों पूर्व से ही साहित्यिक परंपराएँ गूँजती रही हैं और विचार-विमर्श होते रहे हैं।... स्पष्ट है कि उस काल में शासन-काल एवं शासन-शास्त्र की बातें पद्धतियों का रूप पकड़ चुकी थीं।' तीन, 'राजधर्म को सभी धर्मों का तत्व या सार कहा गया है।...राजधर्म विश्व का सबसे बड़ा उद्देश्य था और इसके अंतर्गत आचार, व्यवहार, प्रायश्चित के सभी नियम आ जाते थे।"[2]

'धर्मशास्त्र का इतिहास' से सहायता लेने की जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि 'मंथन' के इस अंक में राजधर्म रूपी वटवृक्ष और उसकी शाखाओं को वर्तमान संदर्भ में समझाने वाले आलेख हैं। डा. काणे ने अपनी पुस्तक में राज्य के 'सात अंग'[3] बताए हैं। यह प्राचीन राज्य व्यवस्था के संकेतक हैं। लेकिन 1950 के बाद जो राज्य व्यवस्था बनी है, वह भारत के संविधान से संचालित है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का मशहूर कथन है, "सरकार का एक ही धर्मग्रंथ होता है-भारत का संविधान। देश संविधान से ही चलेगा। संविधान से ही चलना चाहिए और संविधान की ताकत से ही देश को ताकत मिल सकती है।"[4] यह कथन ही अपने आपमें एक शास्त्र को सूत्ररूप में बीज की भाँति समेटे हुए है। इससे पहले किसी प्रधानमंत्री ने भारत के संविधान को 'धर्मग्रंथ' की प्रतिष्ठा नहीं दी थी। यह एक नवीनता है। इसलिए इसमें चमक भी है।

चाहे कोई सिद्धांत हो, चाहे विचार का कोई मील का पत्थर हो, चाहे कोई शास्त्र हो, या धर्मग्रंथ ही हो, उसे जनजीवन की जड़ों से बिना जुड़े पहचान नहीं मिलती। यह एक लंबी प्रक्रिया है। उसमें समय खपता है। उसे कालक्रम एक आकार देता है। उस प्रक्रिया का पहला चरण है, संवैधानिक प्रावधान और दूसरा चरण होता है, प्रावधान के अनुरूप विधान। इस क्रम में विधान का कार्यान्वयन वैसे ही है जैसे कि कोई अग्नि परीक्षा हो। जिससे गुजर कर खरे और खोटे का निर्णय होता है। कार्यान्वयन ऐसा विषय है, जिसमें जहाँ प्रतीकात्मकता है, वहीं गहरे शोध और परीक्षण की भी यह माँग करता है। 'मंथन' का यह अंक इस दिशा में एक प्रयास है। कार्यान्वयन निरंतर चलने वाला कार्य है। जिसे दो तलों पर देखा-समझा जाता है। पहला तल है, नीति निर्माण का और दूसरा तल है, उसके क्रियान्वयन का। इन दोनों तलों पर जितना दिखता है उससे कहीं ज्यादा अदृश्य रहता है। इस कारण जो भी अध्ययन होते हैं, वे एक आयाम को प्रकट करते हैं। दूसरे आयामों को जानने-पहचानने के लिए गहरे उतरने की हमेशा समय माँग करता रहता है। इस अंक में भी समय की पुकार सुनी जा सकती है।

जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, इस अंक का प्रयोजन बहुत साफ है। राज्य व्यवस्था के भरण-पोषण स्वरूप कार्यान्वयन को नागरिक केंद्रित बनाने के लिए आवश्यक अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करना है। यहाँ राज्य व्यवस्था के भरण-पोषण स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक है, नहीं तो भ्रम निर्माण हो सकता है। भारतीय मनीषा में त्रिमूर्ति की अवधारणा है। जिसमें भरण-पोषण और संतुलन का देवता निर्धारित है। कार्यान्वयन भी इसी कोटि में आता है। 'मंथन' के इस अंक में 9 आलेख हैं। वे 9 रंगों की दूर से दिखने वाली इंद्रधनुष है। 'मंथन' ने इस अंक में आलेखों को क्रमवार प्रस्तुत कर इंद्रधनुष को एक रंग दे दिया है, सफेद, हालांकि इन आलेखों का रंग-विरंगापन यथावत है। सफेद रंग जनसाधारण के सपने का रंग है। जिसमें सब रंग समाए हुए होते हैं। इन बहुरंगी आलेखों को मिलाकर पढ़ें, तो इनमें कार्यान्वयन को परिभाषित करने का स्वर है, जिसे सुना जा सकता है।

ये आलेख समानांतर हैं। लेकिन इन्हें राजनैतिक नेतृत्व की दृष्टि से प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, संसदीय

अनुभव का एक समूह बनाया जा सकता है। दूसरा समूह है, अफसरशाही का। तीसरा समूह है, सेना, शासन और राजनैतिक नेतृत्व का। चौथा समूह बनता है, संघवाद से संबंधित। और आखिरी है, ग्राम स्वराज का लक्ष्य, संविधानसम्मत यथार्थ और अधूरे सपने का। हर आलेख का अपना महत्त्व है। इन आलेखों पर सरसरी निगाह दौड़ाए, तो हमें प्रो. रजनी रंजन झा के आलेख से शुरुआत करनी चाहिए। वे अनुभवी हैं, अपने विषय के प्रख्यात विशेषज्ञ हैं। उन्होंने इसका विवेचन किया है कि क्या भारत के संविधान में प्रधानमंत्री समान लोगों में प्रथम है? यह एक अवधारणा है। इसी से जुड़ी हुई दूसरी अवधारणा भी है कि प्रधानमंत्री का स्थान मेहराब में उस बीच वाली ईट के समान है जिसके खिसका देने से मेहराब भरभरा कर गिर जाता है।

इस तरह की अवधारणाएँ ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री के स्थान और उस पद के महत्त्व को समझाने के लिए बनी और विकसित हुई। हम यह भी जानते हैं कि संसदीय प्रणाली का स्वरूप हर जगह एक जैसा नहीं है। ऐसी स्थिति में भारत अपवाद नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधानमंत्री पद किसी कृत्रिम मेधा से संचालित नहीं होता। उसे वह नेता गढ़ता है जिसकी अपनी एक परिपक्व दृष्टि होती है। संविधान ने प्रधानमंत्री पद को रंगीला रसूल नहीं बनाया है। संविधान ने तो प्रधानमंत्री को युधिष्ठिर का आसन दिया है। इस देश ने जिस संविधान को बनाया और स्वीकार किया, उसमें प्रधानमंत्री शुरू से ही समान में क्रम से पहले स्थान पर नहीं, बल्कि प्रधानमंत्री का स्थान ठीक बीच में है। इस प्रकार प्रधानमंत्री स्वयं में एक प्रणाली है। अनेक लोगों ने कहा भी है कि इसी संविधान में अगर जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रपति होते और डा. राजेंद्र प्रसाद प्रधानमंत्री होते, तो भारत राष्ट्रपति प्रणाली से चलता। इससे यह बात साफ हुई कि शुरुआत में पंडित जवाहरलाल नेहरू की स्थिति ऐसी थी कि वे स्वयं एक प्रणाली बन गए थे।

प्रो. रजनी रंजन झा ने अपने आलेख में संविधान में प्रधानमंत्री संबंधी अनुच्छेद के आधार पर बताया है कि पंडित नेहरू और सरदार पटेल के समय में कुछ सवाल उठे थे, जो अनुत्तरित रहे। सरदार पटेल के निधन के बाद नेहरू का प्रभुत्व स्थापित हुआ। प्रो. झा ने हर प्रधानमंत्री के कार्यकाल की प्रामाणिक समीक्षा की है। इसमें एक अंतर्दृष्टि है, जिससे यह जाना जा सकता है कि किस तरह प्रधानमंत्री पद और उस पर आसीन राजनेता की अंत:क्रिया से एक व्यवस्था विकासमान गति में है। उन्होंने पाठकों के लिए अपने विवेचन का निष्कर्ष भी बताया है। इस विषय पर व्यापक दायरे में अध्ययन के लिए पुस्तकों में बिखरी हुई सामग्री है। जैसे, पहली पुस्तक है, दुर्गादास की मषहूर पुस्तक–'फ्राम कर्जन टू नेहरू।' इसमें उन्होंने पंडित नेहरू की तुलना लॉर्ड कर्जन से की है। और उनकी टिप्पणी है, "नेहरू की प्रतिभा राजनीति से रोमांस करने में थी, प्रशासन के क्षेत्र में नहीं।"[5] नानी पालकीवाला ने पी.वी. नरसिम्हा राव को ऐसा प्रधानमंत्री बताया, जो पद पर तो हैं, पर जिनके पास सत्ता नहीं है।[6] प्रधानमंत्री कार्यालय एक ऐसा पहलू है, जिसका अध्ययन होना है। संभवत: प्रो. रजनी रंजन झा ने इसे इसलिए स्पर्श नहीं किया है कि यह एक स्वतंत्र विषय है। लेकिन मशहूर पत्रकार नीरजा चौधरी की हाल में ही इसी विषय पर पुस्तक, 'हाऊ प्राइम मिनिस्टर्स डिसाइड्स' आई है। जिसमें नरेंद्र मोदी से पहले के हर प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व, कार्यशैली और निर्णय के तरीके को उदाहरणों से बताया गया है। यह पुस्तक खूब चर्चित है।

इस कड़ी में डी.डी. पटनायक के आलेख को दूसरा स्थान मिलना चाहिए। जिन्होंने राष्ट्रपति पद

प्रो. रजनी रंजन झा ने अपने आलेख में संविधान में प्रधानमंत्री संबंधी अनुच्छेद के आधार पर बताया है कि पंडित नेहरू और सरदार पटेल के समय में कुछ सवाल उठे थे, जो अनुत्तरित रहे। सरदार पटेल के निधन के बाद नेहरू का प्रभुत्व स्थापित हुआ। प्रो. झा ने हर प्रधानमंत्री के कार्यकाल की प्रामाणिक समीक्षा की है। इसमें एक अंतर्दृष्टि है, जिससे यह जाना जा सकता है कि किस तरह प्रधानमंत्री पद और उस पर आसीन राजनेता की अंत:क्रिया से एक व्यवस्था विकासमान गति में है। उन्होंने पाठकों के लिए अपने विवेचन का निष्कर्ष भी बताया है

की संवैधानिक और व्यावहारिक विसंगतियों का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है। कुछ सवाल भी उठाए हैं। जो वैचारिक हैं और एक जगह तो वे राष्ट्रपति प्रणाली को अपने देश के लिए आवश्यक बता रहे हैं। यह आलेख रोचक है और बहस को बढ़ाने में सहायक हो सकता है। डॉ. राहुल चिरमूरकर ने संसदीय शासन के अनुभवों की समीक्षा करने के क्रम में संसदीय लोकतंत्र पर प्रश्न भी उठाए हैं। वे सुझाव देते हैं कि क्यों न राष्ट्रपति प्रणाली पर विचार हो! इनके आलेख में 1993 से प्रचलित संसद की स्थाई समितियों से संसदीय प्रणाली को क्या बल मिला है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। यह उनके अध्ययन से बाहर रह गया है। डॉ. भानु कुमार झा का आलेख संसद की परिधि में सरकार-विपक्ष और नागरिक के संबंधों की संसदीय प्रक्रिया से पाठक को वर्णनात्मक शैली में परिचित कराता है। यह आलेख संसदीय राजनीति के इतिहास से भरपूर है। संसद एक जनप्रतिनिधि संस्थान है। सांसदों के जनप्रतिनिधि चरित्र को एमपी लेड स्कीम ने कितना प्रभावित किया है, इसका अध्ययन भी होना चाहिए। यह एक स्वतंत्र शोध का विषय है। इस पर पहली पुस्तक पत्रकार ए. सूर्यप्रकाश की आई थी।

प्रो. विश्वनाथ मिश्र ने अपने आलेख में एक मौलिक प्रश्न उठाया है। 'कार्यपालिका शक्ति का विस्तार और लोकक्षेत्र का संकुचन: एक विमर्शात्मक अनुशीलन' शीर्षक से उनका यह आलेख है। वैसे तो यह राज्य व्यवस्था की दृष्टि से वैश्विक प्रश्न है। जिसका कोई समाधान सामने नहीं है। लेकिन इस पर विमर्श लंबे समय से चल रहा है। वह जगतव्यापी है। उसका संबंध औद्योगिक सभ्यता से निकली राज्य व्यवस्था में समाज के संकुचन से है। यह चिंता भारत के स्वाधीनता संग्राम के नायकों में सर्वाधिक थी। इसका एक उचित कारण भी है। जो अब प्रामाणिक रूप से स्थापित हो गया है। वह यह कि 17वीं सदी तक भारत में समाज करीब-करीब स्वाधीन था, हालाँकि केंद्रीय शासन की गुलामी का विस्तार हो रहा था। इस पृष्ठभूमि में भारतीय राज्य व्यवस्था की मूल अवधारणा से अगर इसको जोड़ें और जाँचे, तो पाएंगे कि देश का नेतृत्व अपनी राज्य व्यवस्था के मूल तत्त्वों को आजादी के बाद बनी संवैधानिक व्यवस्था में समाहित नहीं कर सका। इसलिए बड़े प्रश्न आज भी बने हुए हैं। उन प्रश्नों के दार्शनिक पक्ष को प्रो. विश्वनाथ मिश्र ने उठाया है। यह ऐसा विषय है जो निरंतर अध्ययन की माँग करता है। यह कह सकते हैं कि यह आलेख उसी की कड़ी में है।

डा. चंद्रपाल सिंह ने ब्यूरोक्रेसी की औपनिवेशिक जड़ों को पहचानने के लिए भरपूर तथ्य के आधार पर विवेचन किया है। उनके आलेख में ऐसी सामग्री है जिससे ब्यूरोक्रेसी की बुनियाद को स्पष्टतया समझना पाठक के लिए सरल है। लेकिन इतना ही होता तो बात दूसरी थी। यह आलेख पाठक के मन में एक प्रश्न का कौतूहल जगाता है। यूँ भी कह सकते हैं कि हर किसी के मन में इसे पढ़ते हुए एक विचार की पुलक पैदा होगी। उसके दिमाग में यह अवश्य कौंधेगा कि जिस ब्यूरोक्रेसी ने ब्रिटिश राज बनाया, क्या वह रामराज्य भी बना सकता है? इसी प्रश्न को नानी ए.पालकीवाला ने अपनी पुस्तक 'वी, दी नेशन, दी लास्ट डिकेड्स' में एक जगह उठाया है और उनका उत्तर है कि "मोटे तौर पर, भारत में प्रशासनिक ढाँचा जस का तस वैसा ही बना हुआ है जैसा कि अंग्रेजों ने छोड़ा था।"[7]

नानी पालकीवाला का यह कथन बड़ा मूल्यवान है। मार्क टली बीबीसी के लिए तीन दशक तक भारत में रहकर दक्षिण एशिया की प्रमुख घटनाओं की रिपोर्टिंग करते रहे। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा है, "राजीव गांधी ऐसे पहले प्रधानमंत्री थे, जिन्होंने लाल फीताशाही की विदाई का इरादा जताया।...लेकिन वे लाइसेंस-परमिट राज का बुनियादी ढाँचा खत्म नहीं कर सके।"[8] इसकी गहराई में नामी नौकरशाह एन.एन. वोहरा ने डुबकी लगाई है। वे अपनी पुस्तक में चेतावनी देते हैं कि "अगर ब्यूरोक्रेसी को ज्यादा सक्षम, उत्तरदायी, ईमानदार, परिणामोन्मुख और जवाबदेह नहीं बनाया गया तो देश में अराजकता, अशांति और गंभीर उपद्रव की स्थिति का खतरा पैदा हो सकता है।"[9] यह अनुभवजन्य विचार है। प्रश्न यह है कि यह समस्या व्यवस्था की है या नेतृत्व की? इस पर विचार किया जाना चाहिए। मेरा विचार है, यह राज्य व्यवस्था की संरचना में आमूल परिवर्तन का विषय है।

मनोज के. झा का आलेख सेना-राजनैतिक नेतृत्व और सुरक्षा के छोरों को जोड़कर आजादी के बाद किए गए बदलाव की निरंतरता को समझाता है। इसमें उदाहरण हैं और जवाबदेही से उत्पन्न सुरक्षा संबंधी आत्मविश्वास के संकेत भी हैं। प्रो. रेखा सक्सेना ने अपने आलेख में संघीय ढाँचे की यात्रा के विकास का अद्यतन विवरण दिया है। यह भी बताया है कि नीति आयोग कैसे संघीय ढाँचे को स्वरूप दे रहा है। अपने निष्कर्ष में वे बताती हैं कि भारतीय संघवाद एक नए दौर में है। जिसमें जहाँ सहयोग है वहीं प्रतिद्वंदिता भी है। यही उसे भविष्य में एक स्वरूप देगा। प्रतिस्पर्द्धा और परस्परता का

नया चरण 2014 के बाद प्रारंभ हुआ है। यह एक समानांतर चलने वाली प्रक्रिया है, जो क्षैतिजीय से मूलत: भिन्न है। यह प्रयोग अवधारणात्मक भी है। इससे संभव है कि भारत का अपना कोई मॉडल विकसित हो जाए।

डॉ. मनोज श्रीवास्तव ने अपने आलेख '73वाँ संविधान संशोधन: विधायन और कार्यान्वयन' को बड़े फलक पर लिखा है। जिसमें उनका प्रशासनिक अनुभव और इस विषय के यथार्थ को हम झाँकते हुए पाते हैं। उन्होंने लिखा है, "यह 'आत्मनिर्भर भारत' के मंत्र का समय है। यह मंत्र 'आत्मनिर्भर गांव' में भी रूपांतरित होता है।...ग्राम जिस तरह से जिस हद तक राज्य पर आश्रित हैं, उस हद तक वे अपने स्वायत्त चरित्र का परिचय नहीं दे रहे। वहाँ पिरामिड का शीर्ष ही आधार को संभाले हुए हैं।" यह एक कड़वी सच्चाई है। इसे आजाद भारत में सबसे पहले जय प्रकाश नारायण ने अनुभव किया। फिर नेहरू को पत्र लिखा। उस पर बहस हुई। इसका वर्णन और विश्लेषण उनकी उस छोटी सी पुस्तक में है जो 'राज्य व्यवस्था की पुनर्रचना, एक सुझाव' शीर्षक से छपी है। यहाँ दो बातें कहना जरूरी है। पहली बात यह है कि महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए मुख्यत: तीन बड़े अभियानों का नियोजन और नेतृत्व किया। वे चौथा अभियान अगर चला पाते, तो वह मेरी समझ से वही होता जो ग्राम स्वराज के उनके सपने में था और उसे वे साकार करने के लिए अपने को पुन: दाँव पर लगा देते। विनोबा ने भूदान आंदोलन से सोचा कि ग्राम स्वराज आ जाएगा। आज यह कहा जा सकता है कि वे उसका सूत्र नहीं पकड़ सके। जे.सी. कुमारप्पा को भी अवसर मिलता, तो वे अपने ग्राम आंदोलन को एक दिशा देते। क्या 73वाँ संविधान संशोधन अपने आप में पूर्ण है? क्या उसे राज्य अगर लागू कर दें, तो ग्राम स्वराज आ जाएगा? अगर नहीं, तो सबसे बड़ी बाधा क्या है? इसे मनोज श्रीवास्तव ने पहचानने के लिए हमें एक दृष्टि दी है। सबसे बड़ा प्रश्न है, ग्राम स्वराज के सूरज को ढकने वाला विंध्याचल कैसे जमीन पर आए! क्या कोई अगस्त्य अवतरित होगा? ऐसे कुछ प्रश्न हैं और वे न बने रहे, इसके लिए ही 'मंथन' का क्रम चलता रहना चाहिए।

रामबहादुर राय

संदर्भ

1. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, खंड-दो, डॉ. पांडुरंग वामन काणे
2. वही, अध्याय-1, पृ.579
3. वही, अध्याय-2, पृ.585
4. *नए भारत का सामवेद*, संविधान संबंधी नरेंद्र मोदी के उद्‌बोधन, 27 नवंबर, 2015 को लोकसभा में भाषण, पृ.63
5. *फ्रॉम कर्जन टू नेहरू*, दुर्गादास, अध्याय-7, दी कर्जन लीगेसी, कर्जन एंड नेहरू, पृ.31
6. *वी, दी नेशन*, दी लास्ट डिकेड्स, नानी ए.पालकीवाला, अध्याय-2, प्राई मिनिस्टर इन ऑफिस बट नाट इन पावर, पृ.45
7. नानी पालकीवाला का दी टाइम्स आफ इंडिया में लेख, 24 जून, 1993
8. *धीमी वाली फास्ट पैसेंजर*, मार्क टली, अनुवाद-प्रभात सिंह, भूमिका, पृ.15-16
9. वही, पृ.18

सहायक पुस्तकों की सूची-

1. *इंडिया'ज पावर एलीट-* संजय बारू, पेंगविन
2. *हाऊ प्राइम मिनिस्टर डिसाइड्स-* नीरजा चौधरी, अलेफ
3. *आखिरी मील, लोकनीति की असली चुनौती-* अमरजीत सिन्हा, प्रभात प्रकाशन
4. *फ्रॉम हीयर टू डेनमार्क, दी इंपाटेंस ऑफ इंस्टीट्यूशन फार गुड गर्वनेंस-* रजत एम नाग, हरेंद्र एस. कोहली
5. *भारत राइजिंग- धर्म, डिमोक्रेसी, डिपलोमेसी*, उत्पल कुमार, इंक, ओ.सी.सी.एम.
6. *दी इंडियन वीलेज: रूरल लाइफ इन दी ट्वेंटी फर्स्ट (21) सेंचुरी*, सुरेंद्र एस. जोधका, अलेफ

डॉ. रजनी रंजन झा

क्या भारत के प्रधानमंत्री समकक्ष लोगों में प्रथम हैं?

भारत सरकार में प्रधानमंत्री की भूमिका बेहद महत्त्वपूर्ण होती है। विभिन्न प्रधानमंत्रियों के कार्य अनुभव पर एक नजर

करीब 200 वर्षों के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से भारत जब 1947 में स्वतंत्र हुआ, तो हमारे संविधान निर्माताओं ने संसदीय-संघीय गणतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था को चुना। वाल्टर बेजहॉट के अनुसार, यूनाइटेड किंगडम में धीरे-धीरे विकसित हुई संसदीय प्रणाली की एक खास पहचान यह है कि कार्यपालिका को इसके दो हिस्सों से पहचाना जाता है; एक तो गरिमापूर्ण भाग और दूसरा कार्यसाधक भाग। गरिमापूर्ण भाग का प्रतिनिधित्व राजा/रानी करते हैं जबकि प्रधानमंत्री कार्यसाधक भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री और उनकी मंत्रिपरिषद के पास होती है जो निचली सदन के प्रति जवाबदेह होता है। ब्रिटेन में प्रधानमंत्री कार्यालय ऐतिहासिक दुर्घटना और क्रमिक विकास की देन है। ब्रिटेन में बीसवीं सदी से चली आ रही परंपरा केअनुसार पीएम को निचले सदन (हाउस ऑफ कॉमन्स) से जुड़ा होना चाहिए। प्रधानमंत्री के पद की स्थिति और शक्ति का क्रमिक विकास 19वीं और 20वीं शताब्दी में ब्रिटेन में बदलती सामाजिक-राजनैतिक स्थिति से प्रभावित हुआ। जिसके परिणामस्वरूप, राजनैतिक टिप्पणीकारों ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री की स्थिति का वर्णन करने के लिए कई अलग-अलग उपमाओं का उपयोग किया है, उदाहरण के लिए "समकक्षों में प्रथम", "सितारों के बीच चंद्रमा," "राज्य के जहाज का खलासी" आदि। अधिकांश विवरण प्रधानमंत्री की स्थिति अपने मंत्रिपरिषद के साथ सापेक्ष रूप से समय-समय पर विकसित होने पर आधारित हैं। 19वीं और 20वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश राजनैतिक व्यवस्था को कैबिनेट प्रणाली के रूप में जाना जाता था। यह द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक, आरएचएस क्रॉसमैन के अनुसार प्रधानमंत्री प्रणाली में बदल गई। हालांकि प्रधानमंत्री की स्थिति तकनीकी रूप से समकक्षों में पहले स्थान पर थी। अपने मंत्रिमंडल को नियुक्त करने, अपने मंत्रिमंडल सहयोगियों को विभाग आवंटित करने, मंत्रिपरिषद में फेरबदल करने, नीतिगत निर्णय पर असहमति के मामले में उन्हें हटाने के विशेषाधिकार के कारण और अंत में नए जनादेश के लिए राजा/रानी से हाउस ऑफ कॉमन्स को भंग करने के की माँग के कारण उनकी स्थिति अन्य कैबिनेट सहयोगियों से काफी बदल गई। व्यक्तिगत लोकप्रियता, करिश्माई व्यक्तित्व, पार्टी के सदस्यों पर पकड़, आम चुनावों में पार्टी को जीत दिलाने की क्षमता ऐसे कई दूसरे कारक हैं जिन्होंने पिछले कुछ वर्षों में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की स्थिति को बदला और उसे मजबूत किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक और विकास यह हुआ कि चुनाव भावी प्रधानमंत्रियों के नाम पर लड़े जाते हैं जिससे पार्टी और सरकार में उनकी व्यक्तिगत स्थिति मजबूत होती है। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो एक संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के रूप में उसे शासन के कई मुद्दों पर ब्रिटिश परिपाटी का सहारा लेना पड़ा क्योंकि देश में शायद ही कोई मिसाल मौजूद थी।

भारतीय संविधान और प्रधानमंत्री

ब्रिटिश राजनैतिक व्यवस्था की तरह, भारत में भी प्रधानमंत्री सरकार में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत के संविधान के केवल चार अनुच्छेदों में पीएम का उल्लेख है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 74 में कहा गया है कि

"राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति उनकी सलाह के अनुसार कार्य करेगा"। इसके अलावा, अनुच्छेद 75 कहता है कि भारत के राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करेंगे, और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति के द्वारा होगी। इस प्रकार, संवैधानिक और तकनीकी रूप से प्रधानमंत्री किसी भी अन्य कैबिनेट मंत्री की तरह ही हैं। प्रधानमंत्री के चुनाव या नियुक्ति के लिए संविधान में किसी विशिष्ट प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है। प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त होने वाले व्यक्ति को लोकसभा के अधिकांश सदस्यों का विश्वासमत प्राप्त होना चाहिए। इसका सीधा मतलब यह है कि राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा जो संसद में बहुमत दल का नेता हो या निचले सदन में बहुमत प्राप्त दलों के गठबंधन का नेता हो। ब्रिटिश परिपाटी के विपरीत, इसमें यह शर्त नहीं है कि प्रधानमंत्री को संसद के निचले सदन से संबंधित होना चाहिए। वर्ष 1966 में जब इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं तो वह उच्च सदन (राज्यसभा) की सदस्य थीं। देवेगौड़ा और मनमोहन सिंह भी उच्च सदन के ही सदस्य थे। अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति की इच्छानुसार कार्य करेगी, जिसका प्रभावी अर्थ है प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर होना। अनुच्छेद 78 में कहा गया है कि यह प्रधानमंत्री का कर्तव्य होगा कि वह केंद्रीय मामलों के प्रबंधन और अन्य विधायी प्रस्तावों से संबंधित मंत्रिपरिषद द्वारा लिए गए सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों के बारे में राष्ट्रपति को सूचित करे। मंत्रिपरिषद के सदस्य संसदीय परंपरा के अनुसार सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होंगे। भारत में प्रधानमंत्री को एक संवैधानिक पद प्राप्त है और भारत के राष्ट्रपति के अधीन सूचीबद्ध कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग व्यवहार में प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है। प्रधानमंत्री की मृत्यु या इस्तीफे से सरकार भंग हो जाती है जबकि मंत्री की मृत्यु या इस्तीफे से केवल पद रिक्त होता है। लोकसभा में बहुमत दल का नेता होने के अलावा, प्रधानमंत्री कैबिनेट का अध्यक्ष, मंत्रिपरिषद का प्रमुख, आम तौर पर लोकसभा का नेता, केंद्र सरकार और प्रशासन का कार्यकारी प्रमुख, भारत और विदेश में देश का आधिकारिक प्रवक्ता होता है। केंद्र सरकार को पीएम के नाम से जाना जाता है। विभिन्न प्रधानमंत्रियों के कामकाज के अनुभव पर नजर डालने से यह कुछ हद तक स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने अपने कैबिनेट सहयोगियों के साथ अपनी स्थिति को कैसे संभाला है और अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए उन्होंने क्या रणनीति अपनाई है।

पीएम की ताकत: तीखे विवाद का विषय

भारत में अंतरिम सरकार का गठन सितंबर 1946 में जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में किया गया था। स्वतंत्रता मिलने के बाद, नेहरू के नेतृत्व में फिर से भारत सरकार का गठन किया गया। कुछ ही समय बाद प्रधानमंत्री और उपप्रधानमंत्री, सरदार वल्लभभाई पटेल के बीच उनके कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में प्रधानमंत्री की शक्तियों और उनकी स्थिति को लेकर मतभेद पैदा हो गए। दोनों के बीच मतभेद और उसके परिणामस्वरूप कड़वी बहस तब शुरू हुई जब अजमेर-तत्कालीन केंद्र प्रशासित क्षेत्र में एक के बाद एक हो रहे दंगों के बाद, नेहरू की यात्रा कुछ अपरिहार्य कारणों से रद्द कर दी गई और प्रधानमंत्री ने अपने प्रधान निजी सचिव, एच. वी. आर. अयंगर को वहाँ के हालात का आकलन करने और उन्हें उसकी रिपोर्ट करने के लिए भेजा। बताया जाता है कि पटेल, जो उप प्रधानमंत्री और गृह एवं राज्य मंत्री थे, ने पहले ही नेहरू को इस मुद्दे पर जानकारी दे दी थी और उन्होंने अपने निजी कार्यालय के किसी अधिकारी को निरीक्षण के लिए भेजने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं की। पटेल ने प्रधानमंत्री के इस कदम को अपने मंत्री पद के कामकाज में दखल के तौर पर देखा। नेहरू ने पटेल की आपत्ति को स्वीकार नहीं किया और उन्हें लिखा, "अगर मुझे प्रधानमंत्री बने रहना है तो मैं अपनी स्वतंत्रता को बाँध नहीं सकता और मुझे अपनी दिशा तय करने की एक निश्चित स्वतंत्रता होनी चाहिए। अन्यथा मेरे लिए संन्यास ले लेना ही बेहतर है। मैं जल्दबाजी में कोई कदम नहीं उठाना चाहता, न आप उठाना चाहेंगे।" जब इसपर पटेल ने टिप्पणी की, तो नेहरू ने जोर देकर कहा कि प्रधानमंत्री "केवल एक नाम मात्र का नेता नहींहै" बल्कि उसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है:

"हालांकि, प्रधानमंत्री के रूप में, मुझे एक विशेष कार्यकरना है जिसमें सभी मंत्रालय और विभाग और वास्तव में सरकारी प्राधिकरण का हर पहलू शामिल हैं। कार्य को आसानी से परिभाषित नहीं किया जा सकता है और इसका उचित निर्वहन काफी हद तक सभी संबंधित पक्षों के सहयोग की भावना पर निर्भर करता है।

भारत में अंतरिम सरकार का गठन सितंबर 1946 में जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में किया गया था। स्वतंत्रता मिलने के बाद, नेहरू के नेतृत्व में फिर से भारत सरकार का गठन किया गया। कुछ ही समय बाद प्रधानमंत्री और उपप्रधानमंत्री, सरदार वल्लभभाई पटेल के बीच उनके कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में प्रधानमंत्री की शक्तियों और उनकी स्थिति को लेकर मतभेद पैदा हो गए। दोनों के बीच मतभेद और उसके परिणामस्वरूप कड़वी बहस तब शुरू हुई जब अजमेर-तत्कालीन केंद्र प्रशासित क्षेत्र में एक के बाद एक हो रहे दंगों के बाद, नेहरू की यात्रा कुछ अपरिहार्य कारणों से रद्द कर दी गई और प्रधानमंत्री ने अपने प्रधान निजी सचिव, एच. वी. आर. अयंगर को वहाँ के हालात का आकलन करने और उन्हें उसकी रिपोर्ट करने के लिए भेजा

निश्चित रूप से, प्रधानमंत्री के इस भूमिका को निभाने के लिए मुझे हर मंत्रालय से निपटना होगा लेकिन एक समन्वयक और दयालु पर्यवेक्षक के रूप में।

नेहरू ने आगे कहा "प्रधानमंत्री को जब और जैसे चाहे कार्रवाई करने की पूरी आजादी होनी चाहिए, हालाँकि इस तरह की कार्रवाई निश्चित रूप से स्थानीय अधिकारियों के कामों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं होनी चाहिए जो उस काम के लिए जिम्मेदार हैं। प्रधानमंत्री स्पष्ट रूप से सेवाओं की निष्ठा और सहयोग में, किसी अन्य व्यक्ति की तरह ही रुचि रखते हैं। सरदार पटेल ने महसूस किया, "अगर इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया, तो यह प्रधानमंत्री को एक आभासी तानाशाह बना देगा, क्योंकि वह दावा करते हैं कि 'वह जब और जैसे चाहें कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता रखते हैं।' मेरी राय में यह सरकार की लोकतांत्रिक और कैबिनेट प्रणाली के पूरी तरह खिलाफ है।"[1]

इस मुद्दे पर नेहरू और पटेल के बीच पत्रों के आदान-प्रदान में कड़वाहट आने लगी थी और सरकार के शुरुआती चरण के कामकाज में ही हलचल मचने वाली थी। नेहरू और पटेल दोनों अलग-अलग अपने गुरु, महात्मा गांधी के पास सलाह और इस गंभीर मुद्दे के समाधान के लिए गए। वे उनसे 30-31 जनवरी 1948 को मिलने वाले थे। लेकिन 30 जनवरी को गांधीजी की हत्या के कारण यह मुलाकात संभव नहीं हो सकी। और मसला अनसुलझा रह गया। महात्मा गांधी के असामयिक निधन, उनका अचानक परिदृश्य से हटने के बाद, प्रधानमंत्री की स्थिति और शक्तियों और उनके कैबिनेट सहयोगियों के साथ उनके संबंधों पर इतने गहरे मतभेदों के बावजूद, नेहरू और पटेल दोनों ने राष्ट्र निर्माण और पुनर्निर्माण के आवश्यक कार्य में सहयोग किया। लेकिन पटेल द्वारा उठाए गए महत्त्वपूर्ण मुद्दे अनुत्तरित रहे। आम तौर पर ऐसा माना जाता है कि जब तक पटेल जीवित थे कैबिनेट में, नेहरू और पटेल दोनों बड़े फैसले लगभग संयुक्त रूप से लेते थे। हालांकि उपरोक्त बातों से यह भी स्पष्ट होता है कि जब पटेल जीवित थे तब भी नेहरू ने हमेशा प्रधानमंत्री की सर्वोच्च स्थिति पर जोर दिया जो उस समय तक ब्रिटेन में स्थापित हो चुका था।

पटेल के बाद नेहरू का दबदबा

पटेल की मृत्यु के बाद, कैबिनेट में नेहरू की सर्वोच्चता को चुनौती देने वाला शायद ही कोई था। जैसा कि नेहरू के जीवनी लेखक, एस. गोपाल ने कहा था, यह एक वन मैन शो था। कनाडाई विद्वान माइकल ब्रेचर लिखते हैं कि कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर, खासकर जम्मू-कश्मीर से जुड़े मुद्दों पर, नेहरू उसे कैबिनेट में नहीं ले गए और खुद ही फैसला लिया। लेकिन ऐसे मौके भी आए जब मौलाना आजाद और जी.बी.पंत जैसे वरिष्ठ सहयोगियों के सुझाव पर नेहरू ने अपने फैसले बदले। ऐसा ही एक उदाहरण 1957 में डॉ. राजेंद्र प्रसाद के भारत के राष्ट्रपति बने रहने से संबंधित है। नेहरू दार्शनिक उपराष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन को भारतीय गणराज्य के दूसरे राष्ट्रपति के रूप में नियुक्त करने के पक्ष में थे लेकिन आजाद और पंत के सुझाव पर उन्होंने अपना विचार बदल दिया। नेहरू के बारे में आम धारणा यह है कि वह आम तौर पर उन मंत्रालयों के कामकाज में हस्तक्षेप नहीं करते थे जिनका नेतृत्व उस समय राष्ट्रीय आंदोलन के जाने-माने नेता करते थे। कैबिनेट सचिवालय सरकारी कामकाज की मुख्य समन्वय एजेंसी के रूप में काम करता था। प्रधानमंत्री की सहायता करने के अलावा प्रधानमंत्री सचिवालय की वास्तव में कोई भूमिका नहीं थी। नेहरू अपने मंत्रिमंडल के सहयोगियों को हटाने में कुछ हद तक अनिच्छुक थे, तब भी जब उन्हें हटाने की माँग सार्वजनिक थी। कई मुद्दों पर अलग-अलग धारणाओं के बावजूद नेहरू ने मोरारजी देसाई के साथ हमेशा सम्मानजनक व्यवहार किया और उन्हें कैबिनेट में दूसरे नंबर पर रखा। प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू का कार्यकाल प्रतिष्ठित प्राधिकारी का लगता था, जिन्होंने यह सुनिश्चित किया कि प्रधानमंत्री का पद केवल एक 'शख्सियत प्रमुख' तक सीमित न रहे।[2] नेहरू ने देश में संसदीय शासन प्रणाली की संस्थाओं को पोषित करने का प्रयास किया।

शास्त्री का पीएमएस: एक नई शुरुआत

मई 1964 में नेहरू की मृत्यु के बाद, लाल बहादुर शास्त्री को पार्टी आकाओं द्वारा प्रधानमंत्री के रूप में चुना गया था। उन्हें उम्मीद थी कि शास्त्री के साथ "सामूहिक नेतृत्व का एक रूप" भारत में काम करेगा।[3] कांग्रेस के सभी महत्त्वपूर्ण नेता उनके समकालीन थे और उन्हें भी उतना ही सम्मान और प्रभाव प्राप्त था जितना कि उन्हें। भारतीय राजनीति पर एक प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान मॉरिस जोन्स टिप्पणी है कि कैबिनेट सरकार की सच्ची भावना में, शास्त्री जी ने अपने मंत्रिमंडल को "अपने समकक्षों की एक टीम के रूप में काम करने की अनुमति दी, जिनके बीच आम सहमति बनानी थी।"[4] लाल बहादुर शास्त्री के संक्षिप्त कार्यकाल को आम तौर पर भारत में कैबिनेट सरकार के स्वर्ण युग के रूप में देखा जाता है, जिसका अर्थ है कि प्रधानमंत्री को समकक्षों में प्रथम माना जाता था। हालांकि, गुहा की राय में, "बहुत जल्द ही पदाधारी प्रधानमंत्री के रूप में अपने अधिकार का दावा कर रहे थे"। इसे बतौर प्रधानमंत्री शास्त्री के तीन शुरुआती फैसलों से देखा जा सकता है। सबसे पहले, मोरारजी देसाई, जो नेतृत्व के दावेदार थे को मंत्रिमंडल से हटा दिया गया। दूसरा, नेहरू की बेटी इंदिरा गांधी को हालांकि सार्वजनिक माँग पर कैबिनेट में शामिल किया गया था, लेकिन उन्हें सूचना और प्रसारण का महत्वहीन विभाग दिया गया था। तीसरा, न केवल स्वतंत्र नीति सलाह के लिए बल्कि उन्हें कैबिनेट पर अत्यधिक निर्भरता से मुक्त करने के लिए प्रधानमंत्री सचिवालय (पीएमएस) का आविष्कारशील निर्माण हुआ।[5] नेहरू काल के विपरीत, पीएमएस ने मंत्रालयों के कामकाज को प्रभावित करना शुरू कर दिया। शास्त्रीजी सौम्य लेकिन दृढ़ स्वभाव के थे। उन्होंने अपनी कैबिनेट बैठकों में सभी को अपने विचार व्यक्त करने की अनुमति दी लेकिन आखिरकार प्रधानमंत्री निर्णय लेते थे और उनका निर्णय अंतिम होता था। वह इस तथ्य

को भली-भांति जानते थे कि प्रधानमंत्री ही निर्णयों के लिए जिम्मेदार होते थे और इसके लिए वह संसद के प्रति जवाबदेह थे। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है: यदि शास्त्री की जनवरी 1966 में ताशकंद में असामयिक मृत्यु नहीं हुई होती, तो यह कहना मुश्किल है कि प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने कैबिनेट में अन्य सहयोगियों के साथ क्या कदम उठाया होता।

इंदिरा के साथ एक नई शुरुआत

इंदिरा गांधी को पार्टी अध्यक्ष के. कामराज और राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर पार्टी के अन्य शीर्ष नेताओं द्वारा चुना गया था, क्योंकि वे उन्हें मोरारजी देसाई की तुलना में "केंद्र में प्रधानमंत्री के लिए एक हानि रहित व्यक्ति" मानते थे। लेकिन एक बार सत्ता में आने के बाद उन्होंने अपने बारे में किये गये सभी आकलन को गलत साबित किया। पहले वर्ष को छोड़कर, कैबिनेट सरकार को कमजोर करने और प्रधानमंत्री के रूप में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की प्रक्रिया सत्ता संभालने के कुछ समय बाद ही शुरू हो गई। उन्हें कैबिनेट सरकार की बारीकियों और तौर-तरीकों की कोई परवाह नहीं थी। 'किचन कैबिनेट' शब्द पहली बार भारतीय राजनीति के बोलचाल में आया, जिसका अर्थ कैबिनेट के ऊपर अपने करीबी सलाहकारों को रखने से था। उन्होंने कैबिनेट में अपना प्रमुख स्थान स्थापित करने के लिए और साथ ही एक स्पष्ट संदेश देने के लिए कि पीएम अकेले ही सत्ता के पिरामिड पर होता है, इंदिरा गांधी ने डीपीएम मोरारजी देसाई से वित्त विभाग छीन लिया और बाद में उन्हें डीपीएम के पद से भी हटा दिया।

1969 में उन्होंने राष्ट्रपति चुनाव में विद्रोही उम्मीदवार वी.वी. गिरी का समर्थन किया, जिसके चलते कांग्रेस में विभाजन हुआ। 1971 के संसदीय चुनावों में उनकी अभूतपूर्व जीत, भारतीय सेनाओं की जीत और उसी वर्ष दिसंबर में बांग्लादेश के निर्माण ने उन्हें एक करिश्माई व्यक्तित्व वाला बना दिया। और इंदिरा गांधी की छवि को राष्ट्रीय नेता से एक अंतरराष्ट्रीय नेता में बदल दिया। कांग्रेस के पुराने नेताओं द्वारा बनाई अलग पार्टी-कांग्रेस (ओ) के पास कैबिनेट या पार्टी में शायद ही कोई ऐसा नेता था जो इंदिरा के दबदबे को चुनौती दे पाता। उन्होंने सरकार और पार्टी के सभी बड़े-बड़े फैसले अकेले ही लेने शुरू कर दिये। उनके सचिव पी.एन हक्सर के मार्गदर्शन में पीएमएस बेहद शक्तिशाली हो गया। पीएमएस ने नीति नियोजक, थिंक टैंक, सरकारी कामकाज के समन्वयक, पीएम और उनके राजनैतिक रणनीतिकार के लिए सभी तरह की सूचनाओं के स्रोत के रूप में कार्य करना शुरू कर दिया। मंत्रिपरिषद में फेरबदल की रणनीति अपनाकर उन्होंने 1970 के दशक के प्रारंभ में गृह और वित्त के विभागों को कुछ समय तक अपने पास रखा और इन दोनों मंत्रालयों में दो महत्त्वपूर्ण बदलाव किए: पहला था केंद्रीय जाँच ब्यूरो (सीबीआई) को गृह मंत्रालय से और प्रवर्तन निदेशालय को वित्त मंत्रालय से अलग करना और उन्हें कैबिनेट सचिवालय में स्थानांतरित करना। ऐसा करने के पीछे वास्तविक मकसद उसे खुद प्रधानमंत्री के प्रभार में लाने से था, जिसका दुरुपयोग उनके इशारे पर किया जा सकता था।[6] इंदिरा गांधी के पूर्ण अधिकार और उनकी बेलगाम शक्ति का अंतिम प्रदर्शन जून 1975 में आपातकाल की घोषणा के साथ देखने को मिला जब उन्होंने आधी रात में तत्कालीन राष्ट्रपति एफ.ए. अहमद से कैबिनेट में बिना किसी चर्चा के आपातकाल की घोषणा पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा। राष्ट्रपति ने भी बिना कोई सवाल उठाए उन्हें उपकृत किया। जैसा कि हम जानते हैं, आपातकाल के दौरान लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की सभी झलकियां गायब हो गई। इस प्रकार, प्रधानमंत्री के रूप में इंदिरा गांधी ने कभी भी अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में खुद को समकक्षों में प्रथम नहीं माना। उन्होंने हमेशा खुद को अपने कैबिनेट सहयोगियों से ऊपर माना। यह सोच उनमें शायद उनकी व्यापक लोकप्रियता, पार्टी के लिए चुनाव जीतने की स्पष्ट क्षमता, पार्टी पर नियंत्रण और एक करिश्माई नेता की उनकी छवि के परिणामस्वरूप आई थी।

मोरारजी देसाई: समकक्ष लोगों में प्रथम?

1977 में आपातकाल के बाद मोरारजी देसाई जनता पार्टी सरकार के प्रधानमंत्री बने। यह सरकार वास्तव में एक गठबंधन सरकार थी। अपने सिद्धांतों को लेकर अड़ियल और समझौता न करने वाली अपनी पहले की छवि के विपरीत, प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने ऐसा व्यवहार करने की कोशिश की मानो वह समकक्ष लोगों में पहले हों। प्रधानमंत्री ने मंत्रालयों के कामकाज में अनावश्यक हस्तक्षेप करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने अपने पीएमओ और प्रधान सचिव वी. शंकर के माध्यम से शक्तियों को जमा करने की कोशिश नहीं की। वास्तव में, उन्होंने न केवल पीएमएस की ताकत कम की, इसका नाम बदलकर प्रधानमंत्री कार्यालय (पीएमओ) कर दिया, बल्कि 1970-76 के दौरान इंदिरा गांधी द्वारा गृह और वित्त मंत्रालय से छीन ली गई अधिकांश शक्तियां उसे वापस कर दीं। मोरारजी के प्रधानमंत्री को समकक्षों में प्रथम मानने के इस बदले हुए रवैये के संभावित कारणों में से एक को दो तरीकों से समझाया जा सकता है- सबसे पहले, आपातकाल के बाद बनी जनता सरकार इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री पद की सीमा लांघकर आगे बढ़ने के परिणामों के प्रति सचेत थी। दूसरा, देसाई इंदिरा गांधी के अधीन एक वरिष्ठ कैबिनेट मंत्री और बतौर डीपीएम उनके साथ हुए दुर्व्यवहार के बारे में भी सचेत रहे होंगे। मोरारजी के शासन के दौरान केंद्र सरकार के कामकाज में इसके महत्व और भूमिका के संदर्भ में कैबिनेट सचिव का पद कुछ हद तक बहाल हो गया था। वैसे यह ध्यान देने योग्य है कि एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण में मोरारजी ने कैबिनेट की एक आपातकालीन बैठक बुलाई और "उसकी सहमति से चौधरी चरण सिंह को एक तीखा पत्र भेजा" जिसमें उन्होंने पीएम के रूप में अपनी शक्तियों का प्रयोग करके "सरकार की सामूहिक जिम्मेदारी का उल्लंघन करने" के लिए उनके इस्तीफे की माँग की थी।[7] यहाँ कैबिनेट की सहमति ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण कारक है।

एक प्रधानमंत्री के रूप में अपने संक्षिप्त

कार्यकाल के दौरान चौधरी चरण सिंह ने कभी भी लोकसभा का मुँह नहीं देखा, ऐसा माना जाता है कि सदन को भंग करने की सिफारिश करने के बाद, उन्होंने अपने नेतृत्व वाली कार्यवाहक सरकार में समकक्षों में प्रथम के रूप में कार्य करने का प्रयास किया।

उन्हें पर्याप्त समय और अवसर नहीं मिला कि वे 1950 और 1960 के दशक में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री सीबी गुप्ता के साथ कैबिनेट मंत्री के रूप में साझा किए गए मंत्रिमंडल की सामूहिक जिम्मेदारी के अपने विचार को विस्तार दे सकें या लागू कर सकें या प्रधानमंत्री के पद के साथ-साथ अन्य कैबिनेट सहयोगियों के रूप में काम कर सकें।[8]

1980 में सत्ता में वापसी के साथ ही इंदिरा गांधी ने खुद को समकक्ष लोगों में प्रथम से भी ऊपर मानना जारी रखा। पार्टी और सरकार पर उनकी पकड़ ही प्रधानमंत्री के रूप में उनकी ऊंची स्थिति और ताकत का मुख्य कारण थी। पीएमओ ने भी देश की नीति नियोजन और शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना जारी रखा। 1971-1977 के दौरान और 1980 के बाद के समय में इंदिरा गांधी ने मंत्रिपरिषद के फेरबदल के विशेषाधिकार का उपयोग कैबिनेट सहयोगियों के मुकाबले में प्रधानमंत्री के रूप में अपनी व्यक्तिगत स्थिति को बढ़ाने की रणनीति के रूप में किया।

राजीवः समकक्षों में प्रथम पर विश्वास नहीं

राजीव गांधी अपनी मां इंदिरा गांधी की दुखद हत्या की पृष्ठभूमि में प्रधानमंत्री बने थे। दिसंबर 1984 के संसदीय चुनावों में उन्होंने कांग्रेस पार्टी को 414 सीटें जिताकर जनता का अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त किया। उन्होंने अपने अनुभवी कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में सैम पित्रोदा, जी.के अरोड़ा, पुपुल जयकर आदि जैसे अपने सलाहकारों पर अधिक भरोसा किया। कई मुद्दों पर वह पी.वी.नरसिम्हा राव, बूटा सिंह और गुलाम नबी आजाद से भी सलाह-मशविरा करते थे लेकिन ऐसे मौके भी आए जब राव से सलाह नहीं ली गई।[9] अपने पाँच साल के कार्यकाल के दौरान राजीव गांधी ने तीन साल के भीतर अपने मंत्रिमंडल में सत्रह बार फेरबदल किया और महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों के पदाधिकारियों को कम से कम 4-5 बार बदला। ऐसा माना जाता है कि 5 वर्ष की अवधि के भीतर उन्होंने छब्बीस बार अपने मंत्रियों में फेरबदल किया। प्रभु चावला छठे कैबिनेट फेरबदल के बारे में लिखते हैं जिसमें उन्होंने अर्जुन सिंह, अरुण नेहरू जैसे ताकतवर लोगों का कद कम किया।[10] उन्होंने नीति निर्माण के लिए अपने मंत्रिमंडल या योजना आयोग की तुलना में अपने पीएमओ पर अधिक भरोसा किया। शुरुआत में 'मिस्टर क्लीन' के नाम से जाने जाने वाले राजीव गांधी की छवि बोफोर्स डील के सुर्खियों में आने के बाद धूमिल हुई। उसके बाद से ही राजनीति और प्रशासन पर उनकी पकड़ ढीली हो गई। कुल मिलाकर, उन्हें एक ऐसे प्रधानमंत्री के रूप में देखा जाता है, जो प्रधानमंत्री के रूप में अपनी स्थिति को अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली मानते थे और उसी के अनुसार व्यवहार करते थे।

राजीव गांधी अपनी मां इंदिरा गांधी की दुखद हत्या की पृष्ठभूमि में प्रधानमंत्री बने थे। दिसंबर 1984 के संसदीय चुनावों में उन्होंने कांग्रेस पार्टी को 414 सीटें जिताकर जनता का अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त किया। उन्होंने अपने अनुभवी कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में सैम पित्रोदा, जी.के अरोड़ा, पुपुल जयकर आदि जैसे अपने सलाहकारों पर अधिक भरोसा किया। कई मुद्दों पर वह पी.वी.नरसिम्हा राव, बूटा सिंह और गुलाम नबी आजाद से भी सलाह-मशविरा करते थे लेकिन ऐसे मौके भी आए जब राव से सलाह नहीं ली गई। अपने पाँच साल के कार्यकाल के दौरान राजीव गांधी ने तीन साल के भीतर अपने मंत्रिमंडल में सत्रह बार फेरबदल किया और महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों के पदाधिकारियों को कम से कम 4-5 बार बदला

वी.पी. सिंहः समकक्षों में प्रथम के समर्थक

प्रधानमंत्री के रूप में वी पी सिंह का संक्षिप्त कार्यकाल (2 दिसंबर 1989-10 नवंबर 1990) था। और उन्हें कैबिनेट में उनके पहले बराबरी के दृष्टिकोण के लिए जाना जाता है। चूँकि उन्होंने प्रधानमंत्री की अवहेलना करते हुए राजीव गांधी के मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया था, इसलिए उन्होंने अपने कैबिनेट मंत्रियों की स्वतंत्रता बनाए रखी। उन्होंने मंत्रियों को अपने विभागों से संबंधित निर्णय अपने स्तर पर लेने के लिए प्रोत्साहित किया। वह पीएमओ को सत्ता का केंद्र बनाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने भारत को संघीकृत करने वाली सरकार के मुखिया के रूप में अधिक व्यवहार किया जिसने गठबंधन सरकार की अध्यक्षता की। क्या यही बात चन्द्रशेखर सरकार के बारे में भी कही जा सकती है? चन्द्रशेखर के पास संसदीय और सार्वजनिक जीवन में काम करने का प्रचुर अनुभव था, लेकिन जिस सरकार का वह नेतृत्व कर रहे थे वह एक सनकी सरकार थी - एक ऐसी गठबंधन सरकार जो कांग्रेस के बाहरी समर्थन पर निर्भर थी। पूर्व राष्ट्रपति, प्रणब मुखर्जी समेत कई टिप्पणीकारों ने बतौर पीएम उनके प्रदर्शन की सराहना की है। सुब्रमण्यम स्वामी ने अपने एक इंटरव्यू में उन्हें अच्छा कार्यकारी पीएम बताया था। ऐसा लगता है कि चन्द्रशेखर एक शक्तिशाली प्रधानमंत्री में विश्वास करते थे, लेकिन अपने मंत्रिमंडल सहयोगियों के मंत्रालयों जुड़े मामलों में हस्तक्षेप करके उनकी भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचाते थे। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री के रूप में उनका बेहद संक्षिप्त कार्यकाल और मौजूदा राजनैतिक स्थिति ने कैबिनेट

सहयोगियों के साथ उनके संबंधों के बारे में उनके विचारों को स्पष्ट रूप से सामने नहीं आने दिया।

राव: क्या वह समकक्षों में प्रथम में विश्वास रखते थे?

पी.वी. नरसिम्हा राव (1991-1996) ने अल्पमत सरकार के प्रमुख के रूप में कम सुर्खियों के साथ शुरुआत की। वह ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो अपने पीएमओ में सभी शक्तियों को केंद्रीकृत करना चाहते थे। शुरुआत में ऐसा लगा कि राव की सरकार संसदीय लोकतंत्र की सर्वोत्तम परंपराओं के अनुरूप काम कर रही है। जैसे कुछ मंत्रियों और नौकरशाहों को अधिक महत्त्व दिया गया था।[11] यह भी कहा जाता है कि राव ने कैबिनेट की प्रभुता बहाल कर दी थी। इस प्रकार, कोई यह अनुमान लगा सकता है कि उन्होंने प्रधानमंत्री को अपने समकक्ष लोगों में प्रथम मानने का प्रयास किया। जब चीनी प्रधानमंत्री ली पेंग भारत के दौरे पर थे, तो उन्होंने अपने वित्त राज्य मंत्री, रामेश्वर ठाकुर को पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री और उस समय देश में सबसे लंबे समय तक सेवा करने वाले मुख्यमंत्री, ज्योति बसु के साथ परामर्श करने के लिए भेजा। इसलिए राव को सलाह के लिए केंद्र का रूख करने वाले राज्य के मुख्यमंत्रियों/मंत्रियों की सामान्य प्रवृत्ति को बदलने का श्रेय दिया जाना चाहिए। वैसे चीजें बाद में बदल गईं जब पीएमओ में उनके प्रधान सचिव, एएन वर्मा द्वारा गेटकीपर की भूमिका के कारण उनके मंत्रिपरिषद के सदस्यों का भी पीएम से मिलना मुश्किल हो गया था। ऐसा माना जाता है कि एक अनुभवी और चतुर राजनैतिक कार्यकारी के रूप में, राव ने, इंदिरा गांधी की तरह, विपक्षी दलों के साथ-साथ अपनी पार्टी के अपने राजनैतिक विरोधियों का एक डोजियर तैयार किया था, जिसका उपयोग किसी भी संभावित राजनैतिक आवश्यकता के मामले में किया जा सकता था। एक दर्जन से अधिक 'परेशान करने वाले' राजनेताओं से जुड़ी गुप्त फाइलें राव ने देवेगौड़ा को दी थीं और इन्हें इन्द्र कुमार गुजराल और वाजपेयी के कार्यकाल के दौरान पीएमओ में रखा गया था।[12] यह राव की एक और तस्वीर पेश करता है, जिन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में अपने कार्यकाल के उत्तरार्ध में अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में प्रधानमंत्री के रूप में अपनी भूमिका पर अपना मन बदल लिया। इससे हमें उन विभिन्न तरीकों की भी झलक मिलती है जिनसे एक प्रधानमंत्री सत्ता की राजनीति में अपने संभावित प्रतिद्वंद्वियों पर नियंत्रण रख सकता है।

गौड़ा और गुजराल: समकक्षों में प्रथम पर अडिग

राव के बाद एच.डी. देवेगौड़ा को 1 जून 1996 को संयुक्त मोर्चा सरकार का नेतृत्व करने के लिए चुना गया और वह 21 अप्रैल 1997 तक इस पद पर रहे। यह कांग्रेस पार्टी के बाहरी समर्थन वाली गठबंधन सरकार थी। प्रधानमंत्री के रूप में देवेगौड़ा ने नियम पुस्तिका के अनुसार सख्ती से काम किया और खुद को समकक्ष लोगों में प्रथम के रूप में पेश किया। सरकार भ्रष्टाचार के किसी भी आरोप से मुक्त होकर सुचारू रूप से चली। एसीसी प्रस्तावों को पीएमओ में उनके मिलने के कुछ घंटों के भीतर ही मंजूरी मिल गई। इस सरकार के दौरान सरकार में वरिष्ठ पदों पर नियुक्तियों की प्रणाली को निष्पक्ष, उद्देश्यपूर्ण और पारदर्शी बताया गया था। एक उदाहरण मिलता है जब एक सेमिनार में भाग लेने हेतु विदेश जाने के लिए उर्जा राज्य मंत्री को प्रधानमंत्री द्वारा दी गई अनुमति को प्रधानमंत्री/पीएमओ द्वारा रद्द कर दिया गया था जब यह ध्यान में लाया गया था कि मौजूदा नियम मंत्री को आगामी बैठक में भाग लेने की अनुमति नहीं देते हैं।[13] अगले प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने सरकार की गठबंधन प्रकृति और एक राजनेता के रूप में अपने सौम्य, गरिमापूर्ण, परिष्कृत व्यवहार के कारण प्रधानमंत्री की स्थिति को समकक्ष लोगों में प्रथम माना।

वाजपेयी: स्वीकार्यता और व्यक्तित्व का लाभ

अटल बिहारी वाजपेयी ने चौबीस दलों के गठबंधन वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार (1998-2004) का नेतृत्व किया, जो शायद अपने आप में एक विश्व रिकॉर्ड है। उनके लंबे संसदीय अनुभव, मिलनसार स्वभाव, एक परिपक्व नेता के गुणों के कारण, जिनकी मित्र मंडली पार्टी लाइन से परे थी, जिनका सभी सम्मान करते थे। उनकी एक गैर कट्टर भाजपा नेता की छवि होने के कारण कभी-कभार आने वाले शासन के तनावों के बावजूद वाजपेयी सरकारी कामकाज करने के अपने तरीके खोजकर, अपने गठबंधन सहयोगियों के साथ (अन्नाद्रमुक को छोड़कर) सफलतापूर्वक समन्वय करने में सक्षम थे। उन्होंने अपने मंत्रियों और गठबंधन दलों के नेताओं के साथ सम्मानजनक और गरिमापूर्ण व्यवहार किया। विपक्षी दलों के नेताओं के प्रति भी उनका रवैया मर्यादित और सम्मानजनक

अटल बिहारी वाजपेयी ने चौबीस दलों के गठबंधन वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार (1998-2004) का नेतृत्व किया, जो शायद अपने आप में एक विश्व रिकॉर्ड है। उनके लंबे संसदीय अनुभव, मिलनसार स्वभाव, एक परिपक्व नेता के गुणों के कारण, जिनकी मित्र मंडली पार्टी लाइन से परे थी, जिनका सभी सम्मान करते थे। उनकी एक गैर कट्टर भाजपा नेता की छवि होने के कारण कभी-कभार आने वाले शासन के तनावों के बावजूद वाजपेयी सरकारी कामकाज करने के अपने तरीके खोजकर, अपने गठबंधन सहयोगियों के साथ सफलतापूर्वक समन्वय करने में सक्षम थे। उन्होंने अपने मंत्रियों और गठबंधन दलों के नेताओं के साथ सम्मानजनक और गरिमापूर्ण व्यवहार किया

था। प्रधानमंत्री के रूप में यद्यपि वे स्वयं को अपने कैबिनेट मंत्रियों के साथ समकक्षों में प्रथम मानते थे लेकिन उनके व्यक्तित्व की प्रबल शक्ति और सामान्य रूप से स्वीकार्यता के कारण उनके कैबिनेट सहयोगियों द्वारा उनके साथ आदर और सम्मान का व्यवहार किया जाता था। उनके कार्यकाल के दौरान, शासन के उपकरण के रूप में, उनके प्रधान सचिव, ब्रिजेश मिश्रा के अधीन पीएमओ बहुत शक्तिशाली हो गया। उनके उदार राजनैतिक दृष्टिकोण के बावजूद, ऐसा कहा गया है कि "वाजपेयी युग के भाजपा मंत्रियों का कहना है कि वाजपेयी ने कई महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर आडवाणी और अन्य लोगों के साथ कई जानकारी साझा नहीं की थी। लेकिन उनके मजबूत व्यक्तित्व ने यह सुनिश्चित किया कि वह अपने निर्णय लें।"[14] प्रधानमंत्री के सामने ऐसे मुद्दे होते हैं जिन्हें वह केवल कुछ भरोसेमंद लोगों के साथ ही साझा कर सकते हैं, कभी-कभी तो वे अपने कैबिनेट सहयोगियों के साथ बिलकुल भी साझा नहीं कर पाते।

मनमोहन सिंह: समकक्ष में प्रथम पर दृढ़ विश्वास

संजय बारू के शब्दों में, मनमोहन सिंह एक 'एक्सीडेंटल प्राइम मिनिस्टर' थे। वह न तो अपनी पार्टी के शीर्ष नेताओं में से थे, न ही लोकप्रिय जन नेता थे - यहाँ तक कि लोकसभा के सदस्य भी नहीं थे। उनकी प्रमुख संपत्ति सरकार के विभिन्न स्तरों पर सफलतापूर्वक काम करने का व्यापक अनुभव था। सोनिया गांधी ने उनकी वफादारी और राजनीति में जड़हीन होने के कारण उन्हें प्रधानमंत्री नियुक्त किया। उनके प्रधानमंत्रित्व काल के बारे में आम जनता की धारणा यह है कि वह एक कमजोर प्रधानमंत्री थे क्योंकि असली शक्ति कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी के पास थी, जो सत्तारूढ़ संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) की अध्यक्ष भी थीं। चूँकि यह एक गठबंधन सरकार थी, इसलिए मंत्रिपरिषद की संरचना और विभागों का वितरण गठबंधन के सहयोगियों द्वारा तय किया गया था, न कि प्रधानमंत्री द्वारा।

प्रधानमंत्री के रूप में उनकी कार्यशैली भी उसी को दर्शाती थी। 4 जून 2014 को प्रधानमंत्री के रूप में केंद्र सरकार के सचिवों को अपने पहले संबोधन में, मोदी ने उन्हें अपने फैक्स और ईमेल नंबर दिए और उनसे कहा कि अगर उन्हें काम करने में कोई समस्या हो या उनके पास व्यवस्था में सुधार के लिए पीएम के लिए कोई सुझाव हो तो वे सीधे उनसे संपर्क करें। यह स्पष्ट था कि उन्हें अपने मंत्रियों के माध्यम से प्रधानमंत्री से संपर्क करने की आवश्यकता नहीं है। पूरी शक्ति केवल पीएम और पीएम के पास ही रही

यहाँ तक कि उनकी अपनी पार्टी के भीतर भी मंत्रियों और उनके विभागों का चयन उनकी संतुष्टि के अनुसार नहीं था। मंत्रियों को मंत्रिपरिषद में शामिल किए जाने का श्रेय जितना प्रधानमंत्री को, उतना ही पार्टी अध्यक्ष को भी जाता है। आम धारणा यह है कि मनमोहन सिंह ने कभी भी प्रधानमंत्री के रूप में अपने स्वतंत्र पद का प्रयोग नहीं किया। वह आमतौर पर सोनिया गांधी के नेतृत्व वाली पहली यूपीए सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की सुझाई गई नीतियों के अनुसार चले। लेकिन भारत-अमेरिका परमाणु समझौते के पारित होने से संबंधित एक प्रमुख उदाहरण में, जब प्रधानमंत्री ने निर्णय लिया, तो उन्होंने जुलाई 2008 में गठबंधन के कुछ सहयोगी दलों की आपत्तियों के बावजूद इस मुद्दे पर अपनी बात मनवा ली। यहाँ मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री के रूप में अपनी शक्तियों और स्थिति का भरपूर प्रदर्शन किया। आमतौर पर यह माना जाता है कि प्रधानमंत्री के रूप में मनमोहन सिंह की व्यक्तिगत हिस्सेदारी के बिना यह डील असंभव थी।

नरेंद्र मोदी: पीएम और पीएमओ में सत्ता का केंद्रीकरण

जून 2014 में नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री का पद संभालने के साथ ही प्रधानमंत्री की शक्तियों और उनके पद बारे में एक नया आयाम सामने आने लगा। यहाँ एक ऐसे प्रधानमंत्री थे जिनके पास गुजरात के मुख्यमंत्री (2001-2014) के रूप में लंबा प्रशासनिक अनुभव था और जो अपनी पार्टी के सबसे बड़े और सबसे लोकप्रिय और शक्तिशाली नेता के रूप में उभरे। उनके करिश्माई व्यक्तित्व और नेतृत्व के कारण, भाजपा 1989 के बाद लोकसभा में अपने दम पर बहुमत वाली पार्टी के रूप में उभरी। पूर्ववर्ती मनमोहन सिंह सरकार के विपरीत, प्रधानमंत्री ने अपने मंत्रियों और पार्टीजनों पर नियंत्रण करना शुरू कर दिया। उन्होंने नौकरशाही की कार्य संस्कृति को यथास्थितिवादी से प्रदर्शन उन्मुख मशीनरी में ढालने का नया प्रयोग शुरू किया। चुनाव में उनकी न केवल प्रचार की शैली राष्ट्रपतीय प्रवृत्ति की थी, बल्कि प्रधानमंत्री के रूप में उनकी कार्यशैली भी उसी को दर्शाती थी। 4 जून 2014 को प्रधानमंत्री के रूप में केंद्र सरकार के सचिवों को अपने पहले संबोधन में, मोदी ने उन्हें अपने फैक्स और ईमेल नंबर दिए और उनसे कहा कि अगर उन्हें काम करने में कोई समस्या हो या उनके पास व्यवस्था में सुधार के लिए पीएम के लिए कोई सुझाव हो तो वे सीधे उनसे संपर्क करें। यह स्पष्ट था कि उन्हें अपने मंत्रियों के माध्यम से प्रधानमंत्री से संपर्क करने की आवश्यकता नहीं है। पूरी शक्ति केवल पीएम और पीएम के पास ही रही।[15] (रजनी रंजन झा, "भारत में पीएमओ का विकास: नेहरू से मोदी तक", मानविकी और सामाजिक विज्ञान में अध्ययन, वॉल्यूम XXVIL, नंबर 1, ग्रीष्मकालीन, 2020, IIAS, शिमला, पीपी 157-158)। 2019 के संसदीय चुनावों के नतीजों का श्रेय विशेष रूप से तूफानी चुनाव प्रचार और मोदी की अपील को दिया जाता है, जिसने पीएम की स्थिति को और अधिक मजबूत कर

दिया। प्रधानमंत्री आज समकक्षों में प्रथम नहीं हैं, बल्कि हर मायने में कैबिनेट और सरकार के निदेशक, राजनीति, नीतियों और प्रशासन के प्रमुख, देश के सबसे शक्तिशाली राजनैतिक व्यक्ति और कार्यकारी प्रमुख हैं और शायद वैश्विक स्तर पर भी। हर कोई भारत को घरेलू और अंतरराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर आगे ले जाने के उनके दृष्टिकोण, इस उम्र में काम करने की उनकी अथक ऊर्जा, जनता के साथ उनके जुड़ाव और लोकप्रियता का स्तर, उनकी उत्कृष्ट बोलने की कला, किसी भी बैठक से पहले उनकी उच्च स्तर की तैयारियों से आश्चर्यचकित है। कैबिनेट या सरकार के सचिवों के समूह या किसी व्यक्ति या संगठन के साथ बैठक में, त्वरित सीखने का उनका अभूतपूर्व गुण और आश्चर्यजनक स्मरण शक्ति उन्हें कैबिनेट के अन्य सदस्यों से बहुत ऊपर और अलग करती है। सरकार के वरिष्ठ पदाधिकारियों के साथ बैठकों में वह एक कार्य निर्धारित करते हैं, उनकी कठिनाइयों को सुनते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं। साथ ही वे उसके पूरा होने की समय सीमा तय करते हैं जैसे कि राष्ट्र निर्माण और भारत के लिए राष्ट्रीय गौरव प्राप्त करने के कार्य के लिए समय वास्तव में बहुत कीमती है और असीमित नहीं है। वह वास्तव में एक कसकर काम लेने वाले नेता हैं जिसे वह अपने व्यक्तिगत उदाहरण से दिखाते हैं। उनके इस प्रयास में उन्हें नीतियों की योजना बनाने, पर्यवेक्षण से लेकर कार्यान्वयन तक सभी स्तरों पर पीएमओ द्वारा सहायता प्रदान की जा रही है। मोदी के अधीन पीएमओ को आज वास्तविक भारत सरकार के रूप में देखा जाता है। पिछले कुछ वर्षों में हमारी राजनैतिक व्यवस्था में आए बदलावों की गतिशीलता ने शक्ति संतुलन को कैबिनेट सरकार प्रणाली से प्रधानमंत्री प्रणाली में स्थानांतरित कर दिया है - भले ही स्वरूप में न हो। मोदी के नेतृत्व में प्रधानमंत्री का कार्यालय अपनी धारणा, दृष्टिकोण और कार्यप्रणाली में 'राष्ट्रपतीय' होता जा रहा है। मौजूदा हालात में पीएम मोदी को अपने समकक्षों में प्रथम मानना उनके राजनैतिक व्यक्तित्व के साथ अन्याय होगा। मोदी के नेतृत्व में एक और उल्लेखनीय विकास यह है कि हम एक ऐसे चरण में प्रवेश कर चुके हैं, जिसे "प्रधानमंत्रीय प्रणाली" के रूप में बेहतर ढंग से वर्णित किया जा सकता है, जो हमारी राजनीति के कामकाज में संसदीय और राष्ट्रपति प्रणाली दोनों की विशेषताओं का मिश्रण है। इसका हमारे सरकारी तंत्र की विभिन्न शाखाओं और स्तरों के कामकाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह तो आने वाला समय ही बताएगा।

निष्कर्ष

पिछले 75 वर्षों के दौरान नेहरू से लेकर मोदी काल तक भारतीय प्रधानमंत्रियों की अपने कैबिनेट सहयोगियों के साथ बदलती स्थिति के उपरोक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर, कोई भी कुछ निष्कर्ष निकाल सकता है। सबसे पहले, यह वर्णन कि प्रधानमंत्री समकक्षों में प्रथम हैं, प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटिश अनुभव के संदर्भ में दिया गया था। वह दौर जब प्रधानमंत्री की स्थिति धीरे-धीरे यूके की कन्वेंशन आधारित राजनैतिक प्रणाली में अपनी जड़ें जमा रही थी, जब कैबिनेट प्रणाली थी ब्रिटिश राजनैतिक व्यवस्था की पहचान के रूप में प्रचारित किया गया। जैसा कि आर. एच. एस. क्रॉसमैन ने बताया था, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इंग्लैंड में भी प्रधानमंत्री की स्थिति कैबिनेट प्रणाली से बदलनी शुरू हो गई थी, जो अप्रचलित होकर प्रधानमंत्री प्रणाली बन गई थी। दूसरा, हमारी आजादी के तुरंत बाद, प्रधानमंत्री और उनके कैबिनेट सहयोगियों की स्थिति और शक्तियों के मुद्दे पर प्रधानमंत्री, पंडित नेहरू और उनके शानदार डीपीएम, सरदार पटेल और कुछ वरिष्ठ कैबिनेट सदस्यों के बीच तीव्र मतभेद था। इस मुद्दे को सुलझाने के लिए नेहरू और पटेल दोनों को अपने नेता और गुरु गांधीजी से अगले दिन मिलना था, लेकिन 30 जनवरी 1948 को गांधीजी की हत्या ने उनसे और देश से यह अवसर छीन लिया। और यह मसला अनसुलझा रह गया। पटेल ने प्रधानमंत्री की स्थिति को केवल समकक्षों के बीच प्रथम समन्वयक के रूप में देखा। वहीं नेहरू हमेशा अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में प्रधानमंत्री की सर्वोच्च स्थिति पर जोर देते थे। पटेल ने सरकार के कैबिनेट स्वरूप पर जोर दिया जबकि नेहरू की दृष्टि और कार्यशैली में प्रधानमंत्री का स्वरूप था। पीछे मुड़कर देखने पर कोई भी यह कह सकता है कि शायद यह अंतर गांधीजी के हस्तक्षेप से नेहरू को प्रधानमंत्री के रूप में चुने जाने के तरीके के कारण था, भले ही अधिकांश प्रांतीय कांग्रेस समितियों ने प्रधानमंत्री पद के लिए पटेल को प्राथमिकता दी थी। वैसे गांधीजी के सच्चे शिष्यों के रूप में, नेहरू और पटेल दोनों ने हमारे देश के शुरुआती कठिन दिनों के दौरान कैबिनेट में संयुक्त रूप से अधिकांश निर्णय लेने में सहयोग किया। पटेल की मृत्यु के बाद नेहरू ने अपनी बात रखी और प्रधानमंत्री के रूप में कई मुद्दों पर उन्होंने अपने मंत्रिमंडल से

पटेल की मृत्यु के बाद नेहरू ने अपनी बात रखी और प्रधानमंत्री के रूप में कई मुद्दों पर उन्होंने अपने मंत्रिमंडल से परामर्श नहीं किया और प्रधानमंत्री की ओर से हुई इस चूक के लिए मंत्रिमंडल ने भी उनसे सवाल नहीं किया। तीसरा, जब भी प्रधानमंत्री जनता के बीच लोकप्रिय होते हैं, उनके करिश्माई व्यक्तित्व से पार्टी जीतती है और पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आती है क्योंकि प्रधानमंत्री की व्यापक अपील और चुनाव प्रचार के कारण प्रधानमंत्री अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में ऊंचे पद पर आसीन होते हैं। उन्हें समकक्षों में प्रथम नहीं कहा जा सकता। नेहरू, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी और नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्रियों की इस श्रेणी में रखा जा सकता है

परामर्श नहीं किया और प्रधानमंत्री की ओर से हुई इस चूक के लिए मंत्रिमंडल ने भी उनसे सवाल नहीं किया। तीसरा, जब भी प्रधानमंत्री जनता के बीच लोकप्रिय होते हैं, उनके करिश्माई व्यक्तित्व से पार्टी जीतती है और पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आती है क्योंकि प्रधानमंत्री की व्यापक अपील और चुनाव प्रचार के कारण प्रधानमंत्री अपने कैबिनेट सहयोगियों की तुलना में ऊंचे पद पर आसीन होते हैं। उन्हें समकक्षों में प्रथम नहीं कहा जा सकता। नेहरू, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी और नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्रियों की इस श्रेणी में रखा जा सकता है। चौथा, गठबंधन सरकार में प्रधानमंत्री की स्थिति उनके कैबिनेट सहयोगियों के चयन, विभागों के आवंटन या किसी मंत्री को कैबिनेट से बर्खास्त करने में असमर्थता के परिणामस्वरूप समझौता वाली होती है। चौधरी चरण सिंह, वी. पी. सिंह, चन्द्रशेखर, देवेगौड़ा, आई. के. गुजराल और अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्रियों की इस श्रेणी में रखा जा सकता है। तकनीकी रूप से कहें तो मोरारजी देसाई जनता पार्टी सरकार के प्रधानमंत्री थे, लेकिन पार्टी की घटक इकाइयाँ पार्टी में पूरी तरह से समाहित होने में विफल रहीं। हमारे विश्लेषण के उद्देश्य से उनकी सरकार को गठबंधन सरकार के रूप में माना जा सकता है। प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व की ताकत और स्वीकार्यता के बल पर, वाजपेयी की गठबंधन सरकार ने दो मामलों में विश्व रिकॉर्ड बनाया: पहला, 24 पार्टियों की गठबंधन सरकार चलाकर और दूसरा, अपनी सरकार का पूरा पांच साल का कार्यकाल पूरा करके। पांचवें, लाल बहादुर शास्त्री और पी. वी. नरसिम्हा राव की सरकारों ने पीएम को अपने समकक्षों में पहले स्थान पर मानने की शुरुआत की थी, लेकिन बाद में ऐसा लगता है कि सोच बदल गई और क्रमश: पीएमएस और पीएमओ की मदद से कुछ हद तक शक्तिशाली तरीके से कार्य करना शुरू कर दिया। छठा, प्रधानमंत्री के रूप में मनमोहन सिंह को न तो अपनी सरकार चलाने में खुली छूट मिली क्योंकि यह एक गठबंधन सरकार थी और इसलिए भी क्योंकि सत्ता प्रधानमंत्री और कांग्रेस अध्यक्ष के बीच विभाजित थी।. यद्यपि वे एक सम्मानित प्रख्यात अर्थशास्त्री थे, परंतु राजनैतिक रूप से वे बहुत कमजोर थे। उन्होंने अपनी स्थिति को समकक्ष लोगों में प्रथम के रूप में माना या अलग ढंग से कहें तो, उनके कुछ वरिष्ठ कैबिनेट सहयोगियों ने पीएम के प्रति पूर्ण निष्ठा नहीं रखी। इससे प्रधानमंत्री के रूप में उनकी स्थिति कमजोर हो गई और बाद में सरकार मं इसे 'नीतिगत पंगुता' कहा गया। जैसा कि पहले कहा गया है, परमाणु समझौते के मुद्दे पर एक बार को छोड़कर मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री के रूप में अपनी स्थिति पर जोर नहीं दिया। सातवाँ, भारत में प्रधानमंत्री का पद संस्थागत हो गया है और प्रधानमंत्री को उच्च स्तर का संरक्षण और अन्य नियुक्तियाँ करने, खुफिया और प्रवर्तन एजेंसियों तक पहुँच और नियंत्रण, पीएमओ में शक्ति का क्रमिक संकेंद्रण और विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों की तुलना में पीएम की स्थिति अविश्वसनीय रूप से मजबूत हुई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, एक पार्टी के बहुमत वाले शासन और एक मजबूत, लोकप्रिय नेता के साथ भारत ने प्राइमडेंशियल प्रणाली में प्रवेश किया है" जैसा कि हम नरेंद्र मोदी के शासनकाल में देखते हैं।

संदर्भ

1. देखें, पई पनंदिकर एवं अजय मेहरा, *इंडियन कैबिनेट*, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, 1966, पृ.238-248
2. फ्रांसिने आर. फ्रैंकेल, *इंडिया'ज पोलिटिकल इकोनॉमी 1947-2004: द ग्रेजुअल रिवोल्यूशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2005 (दूसरा संस्करण) पृ.78
3. रामचंद्र गुहा, *इंडिया आफ्टर गांधी: द हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी*, पिकाडोर, नई दिल्ली, 2011, पृ.388
4. डब्ल्यू.एच. मोरिस-जोंस, द *गवर्नमेंट ऐंड पोलिटिक्स ऑफ इंडिया*, हुचिसन ऐंड को., 1971, पृ.145
5. माइकेल ब्रेशर, *सक्सेशन इन इंडिया: अ स्टडी इन डिसीजन मेकिंग*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1966, पृ.115-117
6. जयराम रमेश, *इंटरट्विंड लाइव्ज: पी.एन. हक्सर ऐंड इंदिरा गांधी*, *साइमन* ऐंड शुस्टर, नई, 2018, पृ.141
7. देखें, '2 इन इंडियन कैबिनेट ऐंड 4 एड्स क्विट,'द *न्यूयॉर्क टाइम्स*, जुलाई 1, 1978; (https://www.nytimes.com>archives)
8. पॉल आर. ब्रास, 'चौधरी चरण सिंह: ऐन इंडियन पोलिटिकल लाइफ', *इकोनॉमिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, 25 सितंबर, 1993; (https:charansingh.org>filesPDF Charan Singh Archives)
9. चिन्मय आर. गरेखन, *सेंटर्स ऑफ पावर: माई ईयर्स इन द प्राइम मिनिस्टर्स ऑफिस ऐंड सिक्योरिटी काउंसिल*, रूपा पब्लिकेशंस इंडिया प्रा. लि., नई दिल्ली, 2023, पृ.153
10. देखें, प्रभु चावला, 'कैबिनेट रीशफल: राजीव गांधी कट्स टु साइज पावरफुल मेन लाइक अर्जुन सिंह, अरुण नेहरू', *इंडिया टुडे*, 15 नवंबर, 1986; (www.indiatoday.in)
11. देखें, संडे, 22-28 सितंबर, 1991, पृ.29
12. डी.के. सिंह, 'राव-गौड़ा-गुजराल-वाजपेयी पीएमओ हैड 'एटम बॉम्ब'फाइल्स ऑन पवार, मुलायम ऐंड अदर्स: एक्स-आईएएस ऑफिसर', द *प्रिंट*, 10 नवंबर 2021; (theprint.in)
13. जरनैल सिंह, *विद फोर प्राइम मिनिस्टर्स: माई पीएमओ जर्नी*, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, 2020, पृ.19-23
14. देखें, राकेश मोहन चतुर्वेदी, 'देअर वुड हैव बीन नो एनडीए गवर्नमेंट इन 1998 हैड अटल बिहारी नॉट बीन द फेस ऑफ बीजेपी', द *इकोनॉमिक टाइम्स*, नई दिल्ली, अगस्त 17, 2018; (https://m.economictimes.com>)
15. रजनी रंजन झा, 'इवोल्यूशन ऑफ पीएमओ इन इंडिया: फ्रॉम नेहरू टु मोदी', *स्टडीज इन ह्यूमैनिटीज ऐंड सोशल साइंसेज*, खंड XXVIL, अंक 1, ग्रीष्म, 2020, आईआईएएस, शिमला, पृ.157-158

डॉ. डी. डी. पटनायक

राष्ट्रपति:संवैधानिक और व्यावहारिक स्थिति के बीच द्वंद्व

हमारी व्यवस्था में राष्ट्रपति की भूमिका अत्यंत गरिमापूर्ण है, लेकिन राजनीति इस पद को भी विवादों में घसीटने से बाज न आई। एक तटस्थ विवेचन

भारतीय संविधान सभा ब्रिटिश सरकार अथवा ब्रिटेन के वेस्टमिंस्टर शासन व्यवस्था को अपनाने के पक्ष में थी क्योंकि भारत सरकार अधिनियम 1919 और 1935 के अधीन भारतीय शासन प्रणाली को संसदीय कार्यप्रणाली की राहपर चलना सिखा दिया था (और शायद ब्रिटिश पद्धति के प्रति नरम रुख भी रखते थे)। यद्यपि प्रोफेसर के. टी. शाह जैसे संविधान सभा के अन्य सदस्यों अथवा बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रपति शासन प्रणाली की तरफ अपना झुकाव प्रकट करते हुए स्थिर और स्पष्ट कार्यप्रणाली वाले शासन का समर्थन किया था।[1] गौरतलब है कि जवाहरलाल नेहरू की आंतरिक भावना भी यही थी कि भारत में संसदीय प्रणाली ही लागू हो।

अंततः संविधान में अनुच्छेद 52 को सम्मिलित किया गया जिसमें यह वर्णित है कि 'भारत का एक राष्ट्रपति होगा'। यह संविधान का सबसे छोटा अनुच्छेद है जो राज्य प्रमुख के पदसृजन की पुष्टि करता है। गौरतलब है कि संविधान में कहीं भी सरकार की संसदीय प्रणाली का उल्लेख नहीं किया गया है किंतु अनुच्छेद 74 और 75 में वर्णित प्रावधानों के अनुसार एक संसदीय सरकार का वर्णन है जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा।[2] इसलिए इस संसदीय शासन व्यवस्था को प्रधानमंत्री सरकार के रूप में भी जाना जाता है और इस व्यवस्था की व्याख्या प्रोफेसर हेराल्ड लास्की द्वारा भी की गई है। उन्होंने कहा है कि : "कैबिनेट रूपी मंत्रिमंडलीय सरकार की संरचना का प्रमुख प्रधानमंत्री है और वही संसदीय सरकार का केंद्रीय बिंदु है, यही इसके जीवन और मरण का आधार है।"[3]

चूँकि भारत में कोई ऐसा राजसी व्यक्तित्व नहीं था जो कि भारत के पूरे या बहुत बड़े भाग पर शासन करता रहा हो, और एक संसदीय व्यवस्था में एक वैधानिक या नाममात्र का प्रमुख अनिवार्य भी है, तो भारत के लिए एक नागरिक प्रमुख आवश्यक है; और उसका चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए, क्योंकि एक प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के प्राधिकार हड़पने में सक्षम होगा। इस तरह भारत ने लोकतांत्रिक प्रणाली के साथ संसदीय शासन की विशिष्टता अर्जित करने वाला पहला राज्य बना।

इस विषय पर डॉ. अंबेडकर ने स्पष्ट कर दिया था कि भारत के राष्ट्रपति का पद ब्रिटेन के राजा के पद के समकक्ष है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघवाद में इस मौलिक संरचना के विषय पर मची तकरार के संदर्भ में निर्णय देते हुए पुष्टि की कि राष्ट्रपति का पद ब्रिटेन के राजा के समकक्ष है और इस परिप्रेक्ष्य में उपजे किसी भी विवाद को सुलझाने हेतु भारतीय संविधान को ही संदर्भित किया जाएगा।[4]

ब्रिटिश राजशाही: एक विकसित शाखा

ब्रिटेन में शासन की संसदीय प्रणाली एक ऐसे संयोग और बुद्धिमत्ता का विषय है जो इसकी विगत 8 शताब्दियों की इसकी गाथा को समेटे हुए अविरल इतिहास वाले संवैधानिक चक्र के समेकित प्रभाव को व्यक्त करता है। ब्रिटेन में राजशाही ऐंग्लो-सैक्सन युग से है; और यात्रा में संसद का सूत्रपात 13वीं शताब्दी में हुआ, और इन दोनों के बीच जब-तब सर्वोच्चता का प्रश्न उठने लगा। उतार-चढ़ावों से भरे ब्रिटिश इतिहास में राजशाही ने गृहयुद्ध (1649) झेला और गौरवपूर्ण क्रांति (1688) के परिणामस्वरूप अपनी संप्रभुता की सर्वोच्चता संसद को सौंपने

के बाद यह अंततः सिमट कर रह गई।[5] 17वीं शताब्दी के इस परिणामी कृत्य[6] के बाद से राजा आलंकारिक राज्य प्रमुख बनकर रह गया।

इस पृष्ठभूमि के साथ, बड़े आकार की द्विसदनीय संसद शायद ही शासन करने में सक्षम हो सकती थी, जिसके कारण एक समिति का गठन किया गया, जिसे कैबल कहा गया। यह किसी नामित सदस्य के नाम के बाद का लगने वाले शब्द के पहले अक्षर को ध्वनित करता था और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यहीं से कैबिनेट शब्द की व्युत्पत्ति हुई।

मंत्रिमंडल के प्रमुख को सरकारी निधि के प्रथम लॉर्ड के रूप में जाना जाता था, जिसेकि 1878 की बर्लिन संधि में प्रधानमंत्री कहा गया था। साथ ही यही सरकार का मुखिया और वास्तविक कार्यकारी प्रमुख भी माना गया। यह पद (प्रधानमंत्री) संसद के प्रति जवाबदेह था। यहीं से स्वीकार किया गया कि "राजा कोई गलती नहीं कर सकता", क्योंकि शासकर कार्य के लिए जवाबदेह तो वह कैबिनेट थी जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजा सिंहासनारूढ़ तो होता है, लेकिन शासन नहीं करता। देश का प्रतिनिधित्व राजा करता था, लेकिन संवैधानिक संरचना के अधीन कार्य की जिम्मेदारी प्रधानमंत्री निभाता था।

इस तरह से राजा अंततोगत्वा एंग्लिकन प्रोटेसटेंट चर्च की रक्षा करने और सभी कॉमनवेल्थ राष्ट्रों (राष्ट्रमंडल के सदस्य देशों) के मध्य एक अटूट कड़ी के रूप में कार्य करने के लिए एक व्यावहारिक आवश्यकता बन गया।[7] वह ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास, इसके समाज और संस्कृति, इसकी परंपरा और लोकाचार, और जिसे समग्रता में ब्रिटिश राष्ट्र जीवन कहा जाता है, उसका उदत्त प्रतीक बन गया सवह ब्रिटिश लोगों के जीवन में मनोवैज्ञानिक और समाज वैज्ञानिक रूप से प्रकाश का प्रसार करता है। इसीलिए यह कहावत भी प्रचलित है कि "बकिंघम महल में रहने वाले राजा से कहीं अधिक शांतिपूर्वक यूनाइटेड किंगडम के लोग सोते हैं"।

भारत के राष्ट्रपति और ब्रिटेन के राजा के बीच तुलना एवं विषमताएँ

इंग्लैंड की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ देखें तो वहाँ के राजा के पद के समरूप भारत के राष्ट्रपति को मानना बहुत कठिन है। हरमन फाइनर के शब्दों में भारत का राष्ट्रपति अंततः एक 'निर्मित कार्यकारी' है।[8] इसके अलावा यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि राष्टपति के पद के लिए प्रत्याशी समाज के विभिन्न वर्गों से चुने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व के करिश्मे और उनकी बौद्धिक क्षमता को एक ही पैमाने से नहीं परखा जा सकता। ऐतिहासिक स्मृति के तौर पर डॉ. राजेंद्र प्रसाद और डॉ. राधाकृष्णन को अपवाद माना जा सकता है।

चूंकि भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के द्वारा किया जाता है, जिसमें संसद तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्य शामिल होते हैं, इसलिए वह हमारी संघीय संरचना का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह भारतीय राष्ट्र कसभ्यतामूलक अर्थों में भारतीय राष्ट्र का समग्रता में मुश्किल से ही प्रतिनिधित्व कर पाता है। स्पष्ट है कि संवैधानिक प्रमुख के रूप में राष्ट्रपति का पद और उनकी भूमिका दोनों ही देखने में मोटे तौर पर राजा के समान लगते हैं। वह "संविधान के परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण" की शपथ लेते हैं। लेकिन यह एक राजनैतिक आयाम है. जो कि राष्ट्रीय क्षितिज की दीप्ति को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम नहीं है। इसके अलावा, यह स्पष्ट है कि वह एक संवैधानिक प्रमुख है, और इस प्रकार वह एक निर्मित पद है, इसीलिए ऐतिहासिक रूप से विकसित हुए क्राउन यानी कि राजा की समानता वह नहीं कर सकता।[9] यह स्पष्ट है कि महारानी विक्टोरिया ने 64 वर्षों तक तथा महारानी एलिजाबेथ द्वितीय ने 70 वर्षों तक शासन किया था। अपनी लंबे समय से चली आ रही ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई स्थिति के कारण, जिसमें चुनाव जैसी अनिश्चितता नहीं है, एक राजा या रानी को अपना व्यक्तिगत प्रभाव छोड़ने का अनूठा अवसर मिलता है। यह एक अभिलिखित तथ्य है कि महारानी विक्टोरिया फ्रांस के साथ उभरते युद्ध को टाल सकी थीं, और एडवर्ड सातवें ने 1904 में एंग्लो-फ्रेंच एंटेंटे कोर्डियल में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

राष्ट्रपति हेतु प्रस्तावित धन्यवाद प्रस्ताव के संदर्भ में विपक्ष के नेता रहते हुए श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 15 मार्च 1992 को कहा था, "सरकार की उपलब्धियों और राष्ट्रपति के संकल्प को पढ़ना बिलकुल वैसा ही लगता है जैसे कि ब्रिटिश महारानी का. .. फिर भी कम से कम महारानी को सभी संबंधित लोगों का सम्मान प्राप्त होता है और कोई भी उन पर व्यंग्य नहीं करता।" उनकी यह वेदना बहुत कुछ कह देती है।[10]

भारत का राष्ट्रपति सतारूढ़ दल के द्वारा नामित और समर्थित होता है। इसलिए उसे कहीं ना कहीं राजनैतिक रूप सेसत्ता पक्ष के प्रति थोड़ा झुकाव रखना पड़ता है। किंतु ब्रिटेन के राजा अथवा रानी एक शासक के अथवा राष्ट्र प्रमुख के रूप में इन सतारूढ़ या विपक्षी दलों की राजनैतिक जुगलबंदी से मुक्त होता है। राजा की उपस्थिति कहीं न कहीं गैर-पक्षपातपूर्ण छवि को दर्शाती हुई राष्ट्रीय गरिमा को बढ़ाती है, जिसका भारतीय संदर्भ में अभाव है।

इतनी सारी असमानताओं के बावजूद संचालन के स्तर पर कुछ सार्थक समानताएँ भी हैं। ब्रिटिश परिपेक्ष्य में राजा या रानी के पास तीन व्यावहारिक जिम्मेदारियाँ होती हैं, जिन्हें उनके विशेषाधिकार के रूप में जाना जाता है जहाँ वह अपनी वैयक्तिक बुद्धिमत्ता से निर्देशित होकर कार्य करता है। पहला, प्रधानमंत्री की नियुक्ति करना, दूसरा, प्रधानमंत्री की बर्खास्तगी करना और तीसरा, हाउस ऑफ कॉमन्स को भंग करना। हालाँकि ब्रिटिश शासन शुरुआत से द्विदलीय व्यवस्था का अनुसरण करती आ रही है, इसलिए इन तीनों विशेषाधिकारों का प्रयोग मनमाने तौर पर नहीं किया जा सकता, जब तक कि स्वत: संज्ञान की स्थितियाँ न उत्पन्न हो जाएँ। भारत के भारत के राष्ट्रपति के पास भी ये तीनों ही विवेकाधिकार हैं।

लेकिन बहुदलीय व्यवस्था के कारण उनकी सक्रियता बहुत उबाऊ और यहाँ तक कि पक्षपातपूर्ण भी लगने लगती है। गठबंधन सरकार, लोकसभा में बहुमत के समर्थन पर आशंका और प्रधानमंत्री के विश्वास पर भ्रम अक्सर दिखाई देते हैं; और राष्ट्रपति की भूमिका को कई बार बहुत ही तुच्छ राजनैतिक षड्यंत्रों में घसीट लिया जाता है। यह निराशाजनक है, लेकिन एक सामान्य तथ्य है। भारत में राज्य भी संसदीय रूप में बनाए गए हैं, जहाँ विशेषाधिकार का कारक अक्सर अपमानजनक रूप ले लेता है।

एक ब्रिटिश संवैधानिक प्राधिकारी, वाल्टर बागहोट ने ठीक ही कहा कि ब्रिटिश राजा को अपनी सरकार से परामर्श लेने, चेतावनी देने और प्रोत्साहित करने का अधिकार है, और एक बुद्धिमान राजा के पास इससे अधिक की आवश्यकता नहीं होती।[11] इसे भारतीय राष्ट्रपति के मामले में बिना किसी अस्पष्टता के सही ढंग से लागू किया जा सकता है; और यह स्वस्थ प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दोनों देशों में समान हो सकती है।

राज्य प्रमुख के पद का हाशियाकरण

राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने अपने गरिमामय कद के आधार पर राष्ट्रपति का पद संभाला और भारत के संवैधानिक क्षितिज में अपनी छवि को उच्च स्थान पर स्थापित किया।[12] निश्चित रूप से उनका स्वतंत्रता संग्राम में योगदान काफी महत्त्वपूर्ण था तथा उनकी निकटता जवाहरलाल नेहरू की तरह ही महात्मा गांधी से थी लेकिन उनके राष्ट्रपति बनने के पीछे मात्र यही पैमाने नहीं थे। चूँकि वह भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष भी थे इसलिए स्वाभाविक था कि वही 1950-52 तक के संक्रमण काल के लिए भारत के राष्ट्रपति पद हेतु पहली पसंद थे। तब तक के लिए जब तक कि संसद और राज्य विधानसभाओं का कायदे से गठन नहीं हो गया। इसके बाद भी 1962 तक वह भारत के राष्ट्रपति पद पर आसीन रहे। 1957 में डॉ. प्रसाद ने स्वयं राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बनना चाहा और नेहरू प्रथम दृष्टया इसका विरोध नहीं कर सके।[13] इसके बाद डॉ. राधाकृष्णन राष्ट्रपति बने जो 1952 से 1962 तक प्रथम उपराष्ट्रपति भी थे, उन्हें स्वामी विवेकानंद के बाद भारत के आध्यात्मिक राजदूत की उपाधि मिली थी। इसके बाद 1967 में डॉ. जाकिर हुसैन, जो कि एक शिक्षाविद और सत्यनिष्ठ नेता थे, भारत के तीसरे राष्ट्रपति बने।[14]

जुलाई 1969 में दिल का दौरा पड़ने से डॉ. हुसैन का निधन हो गया। नीलम संजीव रेड्डी राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेस के उम्मीदवार बने; लेकिन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने वी.वी. गिरि को अपने व्यक्तिगत उम्मीदवार के रूप में मैदान में उतारा; और निर्वाचक गण के कांग्रेस सदस्यों को अपने 'विवेक' का उपयोग करके मतदान करने के लिए प्रोत्साहित किया[15], जिसका सीधा मतलब वी. वी. गिरि के लिए वोट करना था।जब पार्टी का सर्वोच्च नेता आधिकारिक उम्मीदवार के खिलाफ विद्रोह करता है तो यह घटनाक्रम राजनैतिक नैतिकता पर सवाल उठाता है! वी. वी. गिरि दूसरी वरीयता की गिनती के बाद निर्वाचित हुए, जो अब तक का रिकॉर्ड है।

भारत सरकार में खाद्य मंत्री के पद पर रहे फखरुद्दीन अली अहमद वर्ष 1974 में राष्ट्रपति बने। तब यह प्रश्न उठा कि राष्ट्रपति के पद पर क्या एक कैबिनेट मंत्री नियुक्त हो सकता है, क्योंकि वह तो पहले से ही प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व से अभिभूत होता है, जिसने उसे मंत्री पद दिया होता है? जब 6 फरवरी 1977 को फखरुद्दीन अली अहमद का निधन हुआ तो तत्कालीन उपराष्ट्रपति बीडी जत्ती को कार्यवाहक राष्ट्रपति बनाया गया और उसी समय आम चुनाव भी चल रहे थे।[16]

डॉ. शंकर दयाल शर्मा एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और शैक्षणिक दृष्टि से उच्चतम योग्यता भी रखते थे। वे राष्ट्रपति बनने से पहले कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष रह चुके थे और फिर भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति बने (1992 - 97)। फिर से वही बात कि ऐसी स्थिति में वह दलीय राजनीति से अलग किस हद तक रह सकता है। अब यहाँ राजनीति की धूल से ब्रिटिश राजा के मुक्त होने की बात छोड़ ही देना ठीक रहेगा।

पुन:, प्रणब मुखर्जी के कद को कोई कमतर नहीं आँक सकता, अंतत: वह राष्ट्रपति बन गए (2012-17) जबकि इसके पहले वे डॉ. मनमोहन सिंह के अधीन उन्हीं के मंत्रिमंडल में कैबिनेट मंत्री थे। यानी उसी प्रधानमंत्री के रहते एक कैबिनेट मंत्री देश का राष्ट्रपति बन गया। इस प्रकार राष्ट्रपति की वास्तविक संवैधानिक स्थिति का प्रश्न उभर कर सामने आता है।

द्रौपदी मुर्मू जैसे विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने इस सर्वोच्च पद को सुशोभित किया है। गणतांत्रिक ढाँचे से बचने की सोच नहीं होनी चाहिए। लेकिन ब्रिटिश समकक्ष के साथ तुलना करने पर यह कद, निष्पक्षता और औपचारिक प्रमुख के रूप में कार्य करने के मामले में समस्याग्रस्त प्रतीत होता है, जो कि एक जैविक, जीवंत लोकतंत्र के लिए कुछ हद तक विरोधाभासी है। सवाल यह है कि ऐसा सजावटी सिंहासन क्यों बनाया जाए? संविधान निर्माताओं को अच्छी तरह से पता था कि सरकार की संसदीय प्रणाली के लिए स्पष्ट रूप से ऐसे कार्यालय की आवश्यकता होगी जो इतिहास की गति के तहत ग्रेट ब्रिटेन में प्रचलन में आया!

संवैधानिक और वैधानिक स्कूल

प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने 1950 से 1962 तक राष्ट्रपति पद संभाला - वास्तव में यह सबसे लंबी अवधि थी - इस दौरान जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री थे। अपनी उत्कृष्ट पृष्ठभूमि के कारण राजेंद्र बाबू व्यक्तिगत करिश्मे के मामले में खुद को नेहरू से कमतर नहीं समझते थे, और दोनों के अलग-अलग विश्वदृष्टिकोण के

कारण उनके व्यक्तित्व का टकराव छिटपुट रूप से सामने आया, और नेहरू ने समझदारी दिखाने के बजाय हठधर्मिता दिखाई। इसका परिणाम यह हुआ राष्ट्रपति की भूमिका और स्थिति पर दो विचार उभरे, अर्थात् संवैधानिक विचार और विधिक विचार, जिसका प्रतिनिधित्व क्रमशः नेहरू और प्रसाद करते थे। नेहरू का दावा था कि भारत वेस्टमिंस्टर प्रणाली के रास्ते पर चल रहा है और इस प्रकार राष्ट्रपति की भूमिका केवल विधिक रूप से है, और इसलिए केवल संवैधानिक है। इसका मतलब था, सैद्धांतिक रूप से राष्ट्रपति प्रमुख थे लेकिन संचालन में उन्हें प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाले मंत्रिमंडल की "सहायता और सलाह" पर काम करना था (अनुच्छेद 53 (1))। इसके अलावा, अनुच्छेद 75 (2) के अर्थ के अनुसार मंत्री व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति जवाबदेह थे, लेकिन वास्तव में प्रधानमंत्री के प्रति; और उसी अनुच्छेद के खंड (3) के तहत मंत्री सामूहिक रूप से संसद (लोकसभा) के प्रति जवाबदेह हैं।[17] यह पंडित नेहरू का संवैधानिक विचार था, जबकि डॉ. प्रसाद द्वारा की गई व्याख्या की गई विधिक विचार का हिस्सा थी। नेहरू अपने तर्क को स्पष्ट करने के लिए तत्कालीन अटॉर्नी जनरल एम.सी. सीतलवाड़ को नियुक्त करते थे और सीतलवाड़ संवैधानिक भावना के बजाय संवैधानिक शब्दों पर बहस करते थे।

नेहरू ने डॉ. प्रसाद की गतिविधियों पर अंकुश लगाने की कोशिश की और डॉ. प्रसाद ने बिना किसी संकोच के उनकी बात को खारिज कर दिया। सरदार पटेल का निधन 15 दिसंबर 1950 को हुआ और डॉ. प्रसाद नेहरू द्वारा किए गए स्पष्ट विरोध के बावजूद मुंबई में उनके अंतिम संस्कार में शामिल हुए। नेहरू की आपत्ति यह थी कि पटेल कैबिनेट मंत्री थे जबकि डॉ. प्रसाद राष्ट्रपति।[18] एक मानवीय सवाल - क्या पटेल और प्रसाद के बीच संबंध केवल उनके संवैधानिक पद के आधार पर बने थे? उनके रिश्ते को नेहरू से बेहतर कोई नहीं जानता था!

डॉ. प्रसाद ने 1950 में रक्षा बलों के सर्वोच्च कमांडर के रूप में (अनुच्छेद 53 (2)) कड़ा विरोध दर्ज कराया कि उन्हें उन परिस्थितियों के बारे में अंधेरे में रखा गया था जिसके कारण जनरल थिमय्या को इस्तीफा देना पड़ा।[19]

इसके अलावा, डॉ. प्रसाद ने प्रधानमंत्री नेहरू की सलाह को ठुकरा दिया जब वह 11 मई 1951 को सोमनाथ में देवता की प्राण प्रतिष्ठा कार्यक्रम का उद्घाटन करने वाले थे। नेहरू के लिए यह सब 'धार्मिक पुनरुत्थानवाद का प्रतीक' और धर्मनिरपेक्षता साख के खिलाफ था। डॉ. प्रसाद को यह पसंद नहीं आया और उन्होंने एक आक्रमणकारी के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रतिरोध के प्रतीक के रूप में सोमनाथ के महत्त्व की ओर संकेत किया। डॉ. प्रसाद ने कहा, "मैं राष्ट्रपति होने के नाते अपने धर्म का परित्याग नहीं कर सकता"[20]। इसके महत्त्व से अवगत कराने के लिए डॉ. प्रसाद ने सोमनाथ में गर्जना की, "इस प्राण प्रतिष्ठा समारोह के साथ हजार साल की बदनामी मिट गई है"। "हजार साल की बदनामी" से उनका क्या अभिप्राय था? डॉ. प्रसाद की प्रतिक्रिया तब भी ऐसी ही थी जब वे 1952 में काशी विश्वनाथ मंदिर गए और पुजारी के पैर धोए। नेहरू समेत समाजवादियों ने शोर मचाया, "भारत के राष्ट्रपति - एक ब्राह्मण के पैर छू रहे हैं!"

डॉ. प्रसाद हिंदू कोड बिल (1952) से असंतुष्ट थे, जिसका उद्देश्य अपने दायरे में केवल हिंदुओं को शामिल करना था और 'शरीयत' को अलग रखना था। उनकी आवाज उन दिनों डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसी ही थी। उनका तर्क संविधान के अनुच्छेद 44 के अनुरूप था, जिसमें समान नागरिक संहिता का प्रावधान था। भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन (1955-56) पर प्रसाद की धारणा भी पसंद नहीं की गई। उन्होंने 1959 में चीन द्वारा शुरू किए गए तिब्बत संकट पर भी चेतावनी दी थी; लेकिन नेहरू ने इसे अनसुना कर दिया। सरदार पटेल के निधन के बाद के.एम. मुंशी ने हमेशा राजेंद्र प्रसाद का समर्थन किया।

आइजनहावर 1959 में भारत आने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका के पहले राष्ट्रपति थे और एलिजाबेथ द्वितीय 1961 में यहाँ आई थीं। दोनों ने ही डॉ. प्रसाद को अपने-अपने देशों में आमंत्रित किया था। लेकिन नेहरू की इच्छा नहीं थी कि वे वहाँ जाएँ[21]। वे प्रसाद की विदेश यात्राओं को कम कर देते थे, ताकि राजेंद्र बाबू की हिंदू छवि नेहरू की धर्मनिरपेक्ष साख को नुकसान न पहुँचाए!

जब राज्यपालों और राजदूतों की नियुक्ति के लिए फाइलें डॉ. प्रसाद के पास भेजी जाती थीं, तो वे इस बात पर गंभीर आपत्ति जताते थे कि उनके साथ महज रबर स्टैंप जैसा व्यवहार किया जा रहा है। एक बार उन्होंने नेहरू को जवाबी पत्र लिखा, "आप गलत मिसाल कायम कर रहे हैं। एक राष्ट्रपति, जो आपको पसंद नहीं करता, आपके लिए बहुत परेशानी खड़ी कर सकता था"[21]। इसका समाधान इस आश्वासन के साथ किया गया कि ऐसी उच्च नियुक्तियों के लिए राष्ट्रपति से पहले ही सलाह ली जाएगी।

डॉ. एस. राधाकृष्णन ने 1962 में डॉ. प्रसाद का स्थान लिया, जो एक 'सक्रिय' राष्ट्रपति भी थे। जब अक्टूबर 1962 में चीन के आक्रमण के कारण भारत की सुरक्षा व्यवस्था चरमरा गई थी, तब डॉ. राधाकृष्णन ने सार्वजनिक रूप से सरकार की आलोचना की थी कि उसने देश को "दुखद स्थिति में

नेहरू ने डॉ. प्रसाद की गतिविधियों पर अंकुश लगाने की कोशिश की और डॉ. प्रसाद ने बिना किसी संकोच के उनकी बात को खारिज कर दिया। सरदार पटेल का निधन 15 दिसंबर 1950 को हुआ और डॉ. प्रसाद नेहरू द्वारा किए गए स्पष्ट विरोध के बावजूद मुंबई में उनके अंतिम संस्कार में शामिल हुए। नेहरू की आपत्ति यह थी कि पटेल कैबिनेट मंत्री थे जबकि डॉ. प्रसाद राष्ट्रपति। एक मानवीय सवाल - क्या पटेल और प्रसाद के बीच संबंध केवल उनके संवैधानिक पद के आधार पर बने थे? उनके रिश्ते को नेहरू से बेहतर कोई नहीं जानता था

पहुँचा दिया है - यह दुख, शर्म और अपमान की बात है"। एच.वी. कामथ के अनुसार राष्ट्रपति ने तत्कालीन रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन को केंद्रीय मंत्रिमंडल से पूरी तरह से बाहर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी - यह केवल पोर्टफोलियो बदलने तक सीमित नहीं था।[22] राष्ट्रपति उत्तरी सीमा पर पराजय के लिए जवाहरलाल नेहरू को हटाने पर भी विचार कर रहे थे। बेशक उन्होंने ऐसा नहीं किया; लेकिन राष्ट्रपति ने कम से कम इस पर विचार करने का साहस तो किया!

1987 में आर. वेंकटरमण के खिलाफ राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्ण अय्यर ने चुनाव अभियान के दौरान दावा किया था कि वे एक "सक्रिय और बहुआयामी" राष्ट्रपति साबित होंगे"।[23] बेशक वे हार गए. लेकिन चूँकि वे सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीश थे, इसलिए सवाल उठता है कि अगर वे राष्ट्रपति चुने जाते तो राष्ट्रपति के रूप में वे बहुआयामिता कैसे दिखा सकते थे!

राष्ट्रपति कार्यालय का क्षरण

1969 में भारतीय संवैधानिक व्यवस्था की शब्दावली में "प्रधानमंत्री का राष्ट्रपति" जैसा विशेषण जुड़ गया, जिसके बाद 1974 के राजनैतिक घटनाक्रम भी हुए। 1969 में जिस तरह से गिरि चुने गए, उससे जाहिर है कि वे इंदिरा गांधी की निजी पसंद बन गए और इस तरह उन्हें प्रधानमंत्री के राष्ट्रपति के रूप में संदिग्ध गौरव प्राप्त हुआ। गिरि के बाद फखरुद्दीन अली अहमद ने पदभार संभाला, जो उस समय इंदिरा गांधी की कैबिनेट में खाद्य मंत्री थे। स्वाभाविक रूप से उनकी दयनीय स्थिति तब स्पष्ट हो गई जब 25 जून 1975 की मध्य रात्रि में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की गई और उसके तुरंत बाद ऑल इंडिया रेडियो पर प्रसारित किया गया। लेकिन अगली सुबह राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर ली गई, और वह भी बिना किसी कैबिनेट निर्णय के, जैसे कि उन्हें हल्के में लिया गया हो!

राष्ट्रपति अहमद को 6 फरवरी 1977 को दिल का दौरा पड़ा, जब आम चुनाव चल रहे थे; और उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति बनप्पा दासप्पा जत्ती ने कार्यभार संभाला। मार्च 1977 में लोकसभा के लिए हुए चुनावों में कांग्रेस पार्टी का सफाया हो गया, जो कि सत्ता में थी। संवैधानिक रूप से नहीं, लेकिन व्यावहारिक रूप से, उन राज्यों में कांग्रेस की सरकारों को स्पष्ट रूप से लोकप्रिय जनादेश नहीं मिला था। इसलिए मोरारजी देसाई सरकार ने कार्यवाहक राष्ट्रपति को सलाह दी कि वे उक्त नौ राज्य सरकारों को बर्खास्त कर दें और राज्य विधानसभाओं को भंग कर दें। लेकिन राष्ट्रपति ने दो दिनों तक सलाह पर ध्यान नहीं दिया। तीसरे दिन संचार मंत्री जॉर्ज फर्नांडीस ने राष्ट्रपति भवन जाकर उनकी सहमति का अनुरोध किया, यह कहते हुए कि अन्यथा मोरारजी देसाई सरकार इस्तीफा दे देगी। लोकप्रिय उत्साह को भांपते हुए राष्ट्रपति ने बिंदीदार रेखाओं पर हस्ताक्षर कर दिए। लेकिन सवाल यह है कि क्या राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह की अवहेलना कर सकते हैं!

इस घटना ने सरकार को एक संवैधानिक संशोधन करने के लिए प्रेरित किया, जिसे 44वें संविधान संशोधन, 1978 में शामिल किया गया; जिसमें लिखा था: "राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद को ऐसी सलाह पर पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है, चाहे वह सामान्य रूप से हो या अन्यथा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद दी गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा"।[24] इसके अलावा, 25 जून 1975 को राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा के तरीके को देखते हुए, उक्त संशोधन में प्रावधान किया गया कि राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा करने के लिए मंत्रिमंडल के निर्णय से राष्ट्रपति को लिखित रूप में सूचित किया जाना चाहिए (अनुच्छेद 352 (3))।

एक अन्य कैबिनेट मंत्री ज्ञानी जैल सिंह ने 1982 में "प्रधानमंत्री के राष्ट्रपति" के रूप में राष्ट्रपति भवन में प्रवेश किया। कांग्रेस परिवार के प्रति उनकी निष्ठा तब साबित हुई जब उन्होंने कहा कि मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू उनके सबसे अच्छे राजनैतिक प्रतीक हैं। वे जल्दी से अपने विदेश दौरे से लौटे और 30 अक्टूबर 1984 की शाम को प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की दुखद हत्या के पाँच घंटे बाद राजीव गांधी को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई। राजीव गांधी उस समय पश्चिम बंगाल के दौरे पर थे और उन्हें वापस राजधानी बुलाया गया। वैसे तो संसदीय प्रणाली के तहत प्रधानमंत्री की तत्काल नियुक्ति अनिवार्य है, लेकिन केवल संसदीय दल के नेता की। राजीव गांधी को पहले प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया और अगले दिन उन्हें संसदीय दल का नेता चुन लिया गया, जो संसदीय प्रोटोकॉल का स्पष्ट उल्लंघन था।[25] हालांकि, प्रधानमंत्री की नियुक्ति के राष्ट्रपति के विशेषाधिकार पर सवाल नहीं उठाया जा सकता।

आगे के विवाद

इस तरह की आशंका के साथ जैल सिंह ने बाद में अपने राष्ट्रपति पद का जोर देना शुरू कर दिया। संविधान के अनुच्छेद 78 में प्रावधान है कि सरकार के निर्णयों के बारे में राष्ट्रपति को सूचित किया जाएगा। प्रधानमंत्री की ओर से हर विदेश यात्रा के बाद राष्ट्रपति से मिलना और उन्हें जानकारी देना प्रथागत था। लेकिन 1986 में पश्चिम से अपनी यात्रा से लौटते समय, राजीव गांधी ने इंदिरा गांधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे पर प्रेस के सामने दावा किया कि उन्होंने कई परंपराओं का उल्लंघन किया है और इसलिए उन्हें अपने विदेशी दौरे के बाद राष्ट्रपति से मिलना जरूरी नहीं लगा। जैल सिंह द्वारा राजीव गांधी से मौखिक अनुरोध के बावजूद 1986 में बैंगलोर में आयोजित दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सम्मेलन की कार्यवाही के बारे में भी जैल सिंह को अंधेरे में रखा गया था। लोंगोवाल के साथ पंजाब समझौते और मिजो नेशनल फ्रंट के साथ मिजोरम समझौते जैसी प्रमुख राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में भी राष्ट्रपति को सूचित नहीं किया गया था। उन्हें नई शिक्षा नीति, 1986 का दस्तावेज और केंद्र सरकार का बहुप्रशंसित 20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम भी उपलब्ध नहीं कराया गया था।

राजीव गांधी ने 4 मार्च 1987 को लोकसभा में रिपोर्ट दी कि वे सभी प्रमुख घटनाक्रमों के बारे में राष्ट्रपति को उचित जानकारी देते थे। लेकिन, इंडियन एक्सप्रेस ने पूरे देश में यह खबर फैला दी कि जैल सिंह ने प्रधानमंत्री की टिप्पणी के बारे में राजीव गांधी को एक पत्र भेजा था[26]। मधु दंडवते ने 18 मार्च को विशेषाधिकार हनन प्रस्ताव पेश किया। अध्यक्ष बलराम जाखड़ ने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि

राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच संवाद को गुप्त दस्तावेज माना जाता है; और राष्ट्रपति को राजनीति की कलाबाजी से दूर रखा जाना चाहिए[27]। फिर भी चंद्रशेखर ने तर्क दिया कि राष्ट्रपति द्वारा राजीव गांधी को किया गया संवाद प्रधानमंत्री की औचित्य पर सार्वजनिक उत्तेजना का प्रतीक है[28]। इसी तरह का प्रस्ताव जसवंत सिंह ने राज्यसभा में पेश किया। सभापति आर. वेंकटरमन ने डॉ. अंबेडकर का हवाला देते हुए जवाब दिया कि राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रमुख हैं और मंत्रिपरिषद संसद के प्रति उत्तरदायी है। उन्होंने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 74 के तहत राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच संवाद पर सवाल नहीं उठाया जा सकता।

हालांकि, लालकृष्ण आडवाणी ने आरोप लगाया: "यदि राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन करता है, तो संविधान में उसे दोषी ठहराने के लिए केवल एक अनुमति दी गई है, उस पर महाभियोग चलाया जा सकता है। लेकिन यदि प्रधानमंत्री संविधान की अवहेलना करने का दोषी है, तो संसद सदस्यों के पास राष्ट्रपति के हस्तक्षेप का आह्वान करने के अलावा कोई विकल्प नहीं ह"।[29]

जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में स्पष्ट रूप से कहा था कि "हम राष्ट्रपति को फ्रांसीसी राष्ट्रपति (तत्कालीन) की तरह सिर्फ एक नाममात्र का मुखिया नहीं बनाना चाहते थे। हमने उन्हें वास्तविक शक्ति नहीं दी, लेकिन हमने उनकी स्थिति को बहुत अधिकार और गरिमा वाला बना दिया है।" इसके अलावा, शमशेर सिंह के मामले में अपने ऐतिहासिक फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट रूप से कहा था कि "इसके विपरीत, संसद में राजा की तरह, राष्ट्रपति को अभी भी परामर्श लेने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का अधिकार होगा। भारत का राष्ट्रपति कोई महिमामंडित शून्य भर नहीं है. .. बल्कि वास्तव में उसके साथ एक व्यापक और प्रेरक भूमिका सन्निहित है"।[30]

इसके अलावा, जैल सिंह ने 1986 में भारतीय डाक और टेलीग्राफ बिल पर चुप्पी बनाए रखी, जिसके कारण बिल को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। इस बिल में सरकार को किसी भी ऐसे पत्राचार को पढ़ने और रोकने का अधिकार दिया गया था जिसे आपत्तिजनक समझा गया हो।

इस समय तक राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच संवाद पूरी तरह टूट चुका था; और अफवाह यहाँ तक थी कि जैल सिंह कभी भी राजीव गांधी सरकार को बर्खास्त कर सकते हैं। अटल बिहारी वाजपेयी और भाजपा के लालकृष्ण आडवाणी ने जैल सिंह के सामने यह दलील रखी कि ऐसा कोई भी कदम एक बुरी मिसाल कायम करेगा। उन दिनों अखबारों में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच संवाद का मुद्दा सबसे ज्यादा चर्चा में था। हालाँकि, जैल सिंह ने अपने उत्तराधिकारी को संविधान के अनुच्छेद 78 के दायरे की व्याख्या करने के लिए छोड़ दिया; और यह मामला गुमनामी में ही रह गया।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

ब्रिटिश राजा की निरंकुशता के दिन अब लद गए हैं। अंग्रेजी प्रणाली के सिद्धांत और व्यवहार उनके इतिहास के पन्नों में ही खो गए हैं, तथा सभी संवैधानिक हितधारक अपनी-अपनी भूमिका को दक्षता के साथ निभा रहे हैं।

राजा का पद और उसकी शक्तियाँ इंग्लैंड के इतिहास में रचे गए हैं और वह एक औपचारिक प्रमुख रहा है। जब भारत औपनिवेशिक अधिरचना और सामंतवाद के मलबे से उबर रहा था, तो भारतीय संविधान निर्माताओं को औपचारिक, सजावटी मुखिया बनाने की क्या जरूरत थी? बल्कि वे खुद को एक प्रतीक के रूप में उपनिवेश से मुक्त कर लेते कि उन्होंने राष्ट्र के पुनर्निर्माण में कुछ अनूठा किया है। लेकिन उन्होंने औपनिवेशिक विरासत का बोझ ढोया!

एक सजावटी मुखिया बनाना सरकारी खजाने के लिए अनावश्यक रूप से महंगा हो गया है, इसके अलावा इसमें कार्यभार का दोहराव भी शामिल है क्योंकि सभी फाइलें औपचारिक स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति भवन भेजी जा रही हैं। संविधान में दिए गए तीन विशेषाधिकारों को छोड़कर कहीं भी राष्ट्रपति अपने व्यक्तिपरक निर्णय का प्रयोग नहीं कर सकते, जिन्हें टाला जा सकता था। जब वह अलग राय रखने का प्रयास करते हैं तो प्रधानमंत्री के साथ अवांछित टकराव होता है जैसा कि शुरुआती दशक में प्रदर्शित हुआ। आखिरकार यह सरकार का प्रधानमंत्री वाला तरीका है - राष्ट्रपति वाला नहीं।

काम के दोहराव से अनावश्यक देरी भी होती है। इसलिए संविधान निर्माताओं द्वारा लागत और समय दोनों ही कारकों को नजर अंदाज किया जा रहा था और वे संसदीय प्रणाली के पक्ष में कूद पड़े। संविधान पर बहस का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस आयाम पर राय उत्साहपूर्ण थी; उत्साहपूर्ण इस अर्थ में कि वे इस बात से खुश थे कि वे अपने पूर्व औपनिवेशिक स्वामी ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनाई गई प्रणाली को आगे बढ़ा रहे थे। राष्ट्रपति प्रणाली की सरकार ने न केवल औपचारिक प्रमुख और प्रणाली के कारण अनावश्यक वित्तीय बोझ और समय बचाया होता, बल्कि राजनीतिक स्थिरता भी पैदा की होती। स्वतंत्रता के बाद के भारत ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एजेंडे के तेजी से कार्यान्वयन की माँग की। एकमात्र विकल्प निश्चित रूप से अमेरिकी तरीका नहीं है; वे अमेरिकी तरीके के कुछ प्रावधानों में संशोधन कर सकते थे और एक अनूठा तरीका विकसित कर सकते थे जैसा कि उन्होंने वेस्टमिंस्टर प्रणाली के मामले में किया था।

जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में स्पष्ट रूप से कहा था कि "हम राष्ट्रपति को फ्रांसीसी राष्ट्रपति की तरह सिर्फ एक नाममात्र का मुखिया नहीं बनाना चाहते थे। हमने उन्हें वास्तविक शक्ति नहीं दी, लेकिन हमने उनकी स्थिति को बहुत अधिकार और गरिमा वाला बना दिया है।" इसके अलावा, शमशेर सिंह के मामले में अपने ऐतिहासिक फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट रूप से कहा था कि इसके विपरीत, संसद में राजा की तरह, राष्ट्रपति को अभी भी परामर्श लेने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का अधिकार होगा

राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार का चयन करने के लिए कई कारक मार्गदर्शक होते हैं, और लोकतांत्रिक ढाँचे में यह बाध्यता अपरिहार्य है। इसलिए राष्ट्रपति शायद ही गैर-पक्षपाती और पूरी तरह निष्पक्ष हो सकता है। डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम एकमात्र अपवाद थे जिनकी पृष्ठभूमि गैर-राजनैतिक थी। फिर भी एक तरह का मनोवैज्ञानिक कारक राष्ट्रपति को प्रभावित कर सकता है क्योंकि उन्हें सत्तारूढ़ राजनैतिक व्यवस्था द्वारा आमंत्रित और समर्थित किया जा रहा था।

ऐसे अप्रत्याशित हालात भी रहे हैं जब राष्ट्रपति दोराहे पर खड़े होना पड़ा है, और वह भी संसदीय प्रणाली की अंतर्निहित कमियों के बोझ के कारण, न कि स्वयं राष्ट्रपति के कारण। उदाहरण के लिए, संसदीय दल का विभाजन जो सत्तारूढ़ दल को अल्पमत में ला सकता है, जैसा कि 1979 में हुआ था। चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व वाले विभाजित समूह ने विपक्षी कांग्रेस (जिसके खिलाफ उन्होंने लड़ाई लड़ी थी और जीत हासिल की थी) के साथ बहुमत का समर्थन जुटाया; लेकिन यह केवल कुछ महीनों तक चला। प्रधानमंत्री के रूप में चरण सिंह ने अपना बहुमत साबित करने के लिए भी कभी लोकसभा का सामना नहीं किया, और उन्हें जुलाई 1979 में इस्तीफा देना पड़ा - केवल दिसंबर 1979 में मध्यावधि चुनाव को आमंत्रित करने के लिए। राष्ट्रपति की भूमिका को दोष क्यों दिया जाए? उन्होंने संवैधानिक औचित्य की आवश्यकता के अनुसार कार्य किया।

जब राष्ट्रपति दोराहे पर खड़ा होता है तो अप्रत्याशित रूप से विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, और वह भी राष्ट्रपति के कारण नहीं, बल्कि संसदीय प्रणाली के अंतर्निहित अवगुणों के बोझ तले दबती है। उदाहरण के तौर पर, संसदीय दल का विभाजन, जो सत्तारूढ़ दल को अल्पमत में ला सकता है, जैसा कि 1979 में हुआ था। चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व वाले विभाजित समूह को विपक्षी कांग्रेस (जिसके खिलाफ वे लड़े थे और जीते थे) के साथ बहुमत का समर्थन हासिल हुआ था; लेकिन यह केवल कुछ महीनों तक ही चला। प्रधानमंत्री के रूप में चरण सिंह को अपना बहुमत समर्थन साबित करने के लिए भी कभी लोकसभा का सामना नहीं करना पड़ा, और जुलाई 1979 में उन्हें इस्तीफा देना पड़ा - केवल दिसंबर 1979 में मध्यावधि चुनाव को आमंत्रित करने के लिए। राष्ट्रपति की भूमिका को दोष क्यों दिया जाए? जब भी संवैधानिक मर्यादा की आवश्यकता हुई, उन्होंने कार्य किया।

1990 के अक्टूबर-नवंबर में भी यही स्थिति बनी जब भाजपा ने वी.पी. सिंह सरकार से समर्थन वापस ले लिया क्योंकि आडवाणी जी को समस्तीपुर में गिरफ्तार कर लिया गया था। चंद्रशेखर ने जनता दल से अलग हुए एक गुट का नेतृत्व किया और विपक्षी कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमंत्री पद की शपथ ली, लेकिन 1991 में संसद के बजट सत्र के दौरान उन्हें इस्तीफा देना पड़ा।

1996 में संसद में गतिरोध था। राष्ट्रपति ने अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली सबसे बड़ी पार्टी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। लेकिन सदन में विश्वास की कमी के कारण यह सरकार मात्र तेरह दिनों में ही गिर गई। फिर एक अजीबोगरीब गठबंधन कांग्रेस के समर्थन से बना और प्रधानमंत्री देवेगौड़ा ने समर्थन करने वाली पार्टी के आदेश पर इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस ने इंद्र कुमार गुजराल के लिए प्रधानमंत्री पद संभालने का मार्ग प्रशस्त किया; यह भी अल्पकालिक साबित हुआ।[31]

जयललिता के नेतृत्व वाली एआईडीएमके के समर्थन वापस लेने के बाद वाजपेयी सरकार दूसरी बार तेरह महीने तक चली और मध्यावधि चुनाव की नौबत आ गई। इस तरह राजनीतिक अस्थिरता के कारण 1998 और 1999 में दो मध्यावधि चुनाव हुए। प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति की भूमिका स्पष्ट रूप से चुनौतीपूर्ण थी। फिर भी किसी भी राष्ट्रपति पर कोई संदेह नहीं किया जा सका। गहन जाँच के बाद सरकार की संसदीय प्रणाली को ही दोषी ठहराया जा सकता है। इटली और जापान में कई अल्पकालिक सरकारों के इस प्रणाली के साथ कड़वे अनुभव के बावजूद संविधान निर्माताओं ने इसे चुना।

अनुभव के अनुसार, भारत में राजनैतिक अस्थिरता और भ्रम की स्थिति से निपटने के लिए एक स्थिर एकल कार्यपालिका उचित होती, जो राष्ट्र को विपरीत दिशा में धकेलती है। राष्ट्रपति की संस्था का सरकार की वास्तविक धुरी यानी प्रधानमंत्री के साथ उचित परिप्रेक्ष्य में अभूतपूर्व उपयोग किया जा सकता है। भारत में संसद में राजा का होना बहुत अच्छी बात है, क्योंकि राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है (संविधान का अनुच्छेद 79)। इसलिए पाठ्यक्रम सुधार के लिए राष्ट्रपति की संस्था को अराजनैतिक बनाने और संचार प्रणाली को व्यवहारिक रूप से प्रभावी रूप से चलाने के लिए जोरदार प्रयास की आवश्यकता है। "एक राष्ट्र एक चुनाव" विश्वदृष्टि पाठ्यक्रम सुधार की दृष्टि में एक रचनात्मक कदम हो सकता है।

संदर्भ

1. द *कॉंस्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स* ऑन द 20थ जुलाई 1947, वॉल्यूम III
2. अनुच्छेद 75
   (1) प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर की जाएगी।
   (2) मंत्री, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेंगे।
   (3) मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।
   (कमेंट्रीज, बसु, डी.डी., इंट्रोडक्शन टु द कंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1976 पृ.157)
3. लास्की, *पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन इंग्लैंड*, ऑक्सफोर्ड, 1938, पृ. 228-9
4. *मिनर्वा टेक्सटाइल मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ*, 9 मई 1980
5. 1649 के गृहयुद्ध में चार्ल्स प्रथम का सिर काट दिया गया और 1688 की गौरवशाली क्रांति के बाद जेम्स द्वितीय को भागना पड़ा।
6. लास्की, हैरोल्ड जे. द्वारा गढ़ा गया, *पोलिटिकल थॉट ऑफ इंग्लैंड*, लिबरलिज्म, होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी सिरीज, वॉल्यूम II,

लंदन, पृ. 101

7. यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सम्राट अभी भी कनाडा, *ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड* के कानूनी संप्रभु हैं। यहाँ तक कि 2022 में ऑस्ट्रेलिया में जनमत संग्रह भी कराया गया था कि क्या लोग अभी भी राजत्व बनाए रखना चाहते हैं, और परिणाम सकारात्मक रहा।
8. फाइनर, हर्मन अमेरिकन को इस रूप में चित्रित करते हैं। *थियरी ऐंड प्रेक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेंट*, एच. होल्ट, न्यू यॉर्क, 1949, पृ.299
9. 1998 में एलिजाबेथ द्वितीय ने शाही परिवार के सबसे बड़े पुरुष को राजगद्दी पर बैठाने की परंपरा (ज्येष्ठाधिकार का कानून) में संशोधन किया, तथा यह व्यवस्था दी कि यदि महिला सबसे बड़ी हो, तो वह भी राजगद्दी पर बैठ सकती थी।
10. वाजपेयी, अटल बिहारी, *फोर डिकेड्स इन पार्लियामेंट*, वॉल्यूम III, शिप्रा पब्लिकेशंस, 1998, पृ.101
11. बेजहॉट, वॉल्टर, द इंग्लिश कंस्टीट्यूशन, ऑक्सफोर्ड, 1872, (सोर्स, नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता), पृ.114
12. चक्रवर्ती राजगोपालचारी उस समय गवर्नर जनरल थे, जो राष्ट्रपति पद के प्रबल दावेदार थे। राष्ट्रपति का चयन करने के लिए जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की कैबिनेट उपसमिति गठित की गई। सरदार पटेल ने डॉ. राजेंद्र प्रसाद के पक्ष में जोरदार दलील दी और उनकी बात मान ली गई।
13. दास, दुर्गा, *इंडिया फ्रॉम कर्जन टु नेहरू ऐंड आफ्टर*, रूपा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1969, 1981 प्रिंट, पृ. 355
14. देखने वाली बात यह थी कि नेहरू ने मुसलमान को चुना क्योंकि राजेंद्र प्रसाद और राधाकृष्णन दोनों ही हिंदू छवि वाले थे। जाकिर हुसैन की धार्मिक कट्टरता इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने पोते के दामाद के मुस्लिम बनने के फैसले में हिस्सा लिया क्योंकि वह हिंदू थे।
15. द इंडियन एक्सप्रेस, 15 जुलाई 1969; वैसे यह खबर सभी अखबारों में थी संपादकीय और अन्य स्तंभों में भी।
16. बनप्पा दासप्पा जत्तीकी छवि ओडिशा के राज्यपाल के रूप में धूमिल हुई थी क्योंकि उन्होंने 1973 में विधानसभा को भंग कर दिया था और 1973 में राष्ट्रपति शासन की सलाह दी थी, जबकि विपक्ष के नेता ने उनके सामने बहुमत का प्रदर्शन किया था। जाहिर है कि इसी सेवा के लिए उन्हें उपराष्ट्रपति का पद दिया गया था।
17. भारत में संसदीय प्रणाली वाली सरकार वाले राज्यों में, तमिलनाडु के राज्यपाल आर.एन. रवि ने अनुच्छेद 164(1) की गलत व्याख्या की और दिसंबर 2023 में अपने ही एक मंत्री को बर्खास्त कर दिया, जिसके बाद मद्रास उच्च न्यायालय ने जनवरी 2024 में मंत्री को बहाल कर दिया। मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल की सलाह पर की जाती है; इसलिए उन्हें केवल मुख्यमंत्री की सलाह पर ही हटाया जा सकता है।
18. भाटिया, प्रेम, स्टॉर्म ऑफ ऐंगर.., द ट्रिब्यून, 30 अगस्त 1979, क्यू., सीकरी, एस.एल. कल्याणी पब्लिशर्स, लुधियाना,1989, पृ.111
19. दास, दुर्गा, *इंडिया फ्रॉम कर्जन टु नेहरू ऐंड आफ्टर*, रूपा पब्लिकेशंस, 1981 प्रिंट, पृ. 324
20. सीकरी, तदैव, पृ.112, तथा दास, दुर्गा, तदैव...
21. सीकरी, तदैव
22. सीकरी, तदैव
23. सीकरी,एस.एल.तदैव
24. चौवालीसवाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1978, प्रभावी क्रियान्वयन 20 जून 1979 से। द कंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, सिंह, एम. पी., दिल्ली लॉ हाउस, दिल्ली, पृ. 55
25. द इंडियन एक्सप्रेस, 31 अक्टूबर 1984, समाचार विश्लेषण के अलावासंपादकीय टिप्पणी भी
26. तदैव, 15 मार्च 1987
27. तदैव, 21मार्च 1987
28. तदैव, 19मार्च 1987
29. तदैव...
30. शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य, 1975, एससीआर (1) 814
31. पटनायक, डी.डी., *इंडियन गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स*, शाह पब्लिशर्स, संबलपुर, 1990, पृ.111-2

संदर्भों के अलावा एक आवश्यक ग्रंथ सूची

आडवाणी, एल.के., *माई कंट्री माई लाइफ*, रूपा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2012

ऑस्टिन, ग्रैनविले, द *इंडियन कंस्टीट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ अ नेशन*, अमेजन, पेपरबैक, रीप्रिंट, 1999

बारू, संजय, द *ऐक्सिडेंटल प्राइम मिनिस्टर: द मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ मनमोहन सिंह*, वाइकिंग, नई दिल्ली, 2014

बिपन चंद्रा, मुखर्जी, मृदुला मुखर्जी, *इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस*, पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली, 2008

दास, एस.सी., कंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया: अ कंपरेटिव कंस्टीट्यूशन, जर्मनी स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ बॉन में पीएच.डी. थीसिस, 1953, चौतन्य पब्लिशर्स, प्रकाशन का स्थान इंगित नहीं है, 1968

डाल्वी, मेजर जे.पी., द *हिमालयन ब्लंडर: द कर्टेन रेजर ऑफ द सिनो-इंडियन वॉरऑफ 1962*, मिलिटरी पब्लिशिंग इंप्रिंट, 1968

गुरु दत्त, *इंडिया इन द शैडो ऑफ गांधी नेहरू (हिंदी)*, हिंदी साहित्य सदन, नई दिल्ली, 2022

जेनिंग्स, आइवर, द *क्वींस गवर्नमेंट*, सोर्स - नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता।

मलकानी, के.आर., द *मिडनाइट नॉक*, प्रभात प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 1978, अंतिम संस्करण 2021

मुखर्जी, प्रणब, द *ड्रमेटिक डिकेड: द इंदिरा गांधी ईयर्स*, रूपा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2015

मुनरो, डब्ल्यू.बी., द *यूरोपियन कंस्टीट्यूशंस*, ऑक्सफोर्ड, 1932

नायर, कुलदीप, *बिटवीन द लाइंस*, पेपरबैक, अमेजन, 1964

इमरजेंसी रीटोल्ड, अमेजन, 1978

पायली, एम.वी., *इंडिया'ज कंस्टीट्यूशन*, एस.चांद पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016

राजेंद्र प्रसाद, *ऑटोबायोग्राफी (ओडिया, अनु. कानूनगो, सच्चिदानंद)*, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1981

प्रो. विश्वनाथ मिश्र

कार्यपालिका शक्ति का विस्तार और लोक क्षेत्र का संकुचन : एक अनुशीलन

कार्यपालिका हमारी व्यवस्था का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है लेकिन उसकी शक्तियों का अतिविस्तार लोकक्षेत्र को संकुचित कर रहा है। एक अनुशीलन

विगत शताब्दी के पूर्वार्ध में ही प्रशासन एवं राज्य की कार्यपालिका शाखा की बढती हुई शक्तियों को लॉर्ड हेवर्ट ने नवीन तानाशाही के रूप में देखा था।[1] उनकी विचार-सरणी में इस नवीन तानाशाही के मूल में राज्य की कार्यपालिका शाखा के समक्ष राज्य की व्यवस्थापिका एवम न्यायपालिका शाखा का समर्पण था[2] और इसके लिए उन्होंने प्रत्यायोजित विधायन को भी उत्तरदायी बताया था।[3] यद्यपि इस पुस्तक की तब कटु आलोचना हुई और ब्रिटिश सरकार ने इसकी स्थापनाओं की जाँच और मंत्रियों की शक्तियों की समीक्षा के लिए डोनोमोर आयोग गठित कर दिया किंतु यह आयोग भी तब समस्या की बारीकियों को समझने में नाकाम रहा। इस नाकामी के पीछे समाजवादी विचारों से प्रभावित लास्की जैसे आयोग के सदस्यों की भूमिका भी थी जो तब राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार को समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनुकूल मान रहे थे और विधि के शासन की आलोचना तक जा पहुँचे थे। राज्य के अस्तित्व में आने के बाद से ही इसकी कार्यपालिका की शक्ति में व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका शाखा की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ है। इसके कारण के रूप में विधियों के बेहतर क्रियान्वयन, आकस्मिक आपदाओं के समुचित प्रबंधन, नौकरशाही संरचना की आंतरिक माँग, प्रत्यायोजित विधायन, एवं अंतरराष्ट्रीय राजनीति के दबाव आदि की चर्चा की जाती है। किंतु जिस मात्रा में कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का विस्तार किया है और प्रशासन के निष्पादन की जो स्थिति है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कार्यपालिका शाखा की बढ़ती हुई शक्ति के अनुपात में उसके निष्पादन के स्तर में वृद्धि संतोषजनक नहीं है। फिर भी प्रशासन और राज्य आज एक दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं।

कार्यपालिका की शक्तियों में अत्यधिक विस्तार को हम समग्र मानवीय जीवन के संदर्भ में एक ऐसे रोग के रूप में देख सकते हैं जिसमें मनुष्य के अन्य अंगों की अपेक्षा किसी एक अंग में अधिक विस्तार हो गया हो। यह एक तरह से फीलपाँव रोग की तरह है जिसमें पाँव अन्य अंगों की अपेक्षा बहुत अधिक मोटा और भारी हो जाता है पर उसकी कार्यक्षमता समाप्त हो जाती है और इससे दूसरे अंगों की कार्यक्षमता भी घट जाती है। यह रोग तब और भी विकराल रूप धारण कर लेता है जब समस्त कार्यपालिका या आनुषंगिक रूप से समस्त प्रशासन में किसी व्यक्ति विशेष को शिरमौर बना दिया जाता है और उसे ही हर विभागों के कार्यों में बतौर चेहरा या नायक प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रवृत्ति अतीत में नाजी जर्मनी में भी देखी गई और इसी प्रवृत्ति से स्टालिन का शासन भी ग्रस्त था।

हमारे समय में कार्यपालिका की शक्तियों के विस्तार ने लोक क्षेत्र के संकुचन के ऐसे रोग को जन्म दे दिया है जो न सिर्फ समाज के सर्वांगीण विकास में बाधक है अपितु जिसने विधिक दायित्व और राजनैतिक दायित्व के मध्य अंतर को भी धूमिल कर दिया है। आधुनिक काल में इस प्रवृत्ति के पक्ष में सैद्धांतीकरण के सूत्र हमें डेविड ईस्टन के उत्तर व्यवहारवाद में देखने को मिलता है जहाँ उन्होंने व्यवसायों के राजनैतीकरण को उत्तर व्यवहारवाद की एक

विशेषता बताया।[4] हालाँकि, जब ईस्टन पोलिटिशाइजेशन ऑफ प्रोफेशन की बात कर रहे थे तब उनका उद्देश्य अमेरिकी पूँजीवाद मुक्त समाज के पक्ष में विभिन्न व्यवसायों से जुडी अमेरिकी जनता में ऐसे मनोविज्ञान को जन्म देना भी था जो समाजवादी प्रतिपक्ष के मुकाबले पूँजीवादी राज्य और उसकी नीतियों का समर्थक हो। इस उपक्रम ने पहले तो अमेरिकी समाज में राज्य की कार्यपालिका शाखा की बढ़ती हुई शक्तियों के प्रति जन समर्थन को बढ़ावा दिया और आगे चलकर जब व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद को पूरी दुनिया में एक मानक दृष्टिकोण के रूप में पढ़ाया जाने लगा तब इससे राजनैतिक वैधता प्राप्ति हेतु अमेरिकी मनोवृत्ति ने अन्य देशज मनोवृत्तियों को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया। हाल के वर्षों में माइकल सैंडल जैसे अमेरिकी विचारकों ने राज्य की बढ़ती हुई शक्तियों जिनका सीधा संबंध कार्यपालिका शक्ति के विस्तार से है, को लेकर आधारभूत मीमांसा प्रस्तुत की है। उनकी मीमांसा का सार यह है कि पश्चिमी राज्य अनैतिहासिक एवम असामाजिक मनुष्य की अवधारणा (अनइनकम्बर्ड सेल्फ) पर आधारित है जिसने सामुदायिक मानव की धारणा और सामुदायिक मूल्यों को नुकसान पहुँचाया है और इसके कारण भी न्याय की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।[5] राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार को सैंडल ने समझाते हुए यह लिखा है कि विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के स्थान पर केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के माध्यम से जब अमेरिका में राष्ट्रीय संचेतना जगाने का प्रयास किया गया तब इससे न केवल अमेरिकी गणतंत्रवाद का पराभव हुआ बल्कि इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि इससे लोगों के मध्य जुडाव की जगह उलझाव को बढ़ावा मिला।[6]

बेहतर क्रियान्वयन एवं प्रबंधन के नाम पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति में जो वृद्धि हुई है उसकी इस दृष्टि से भी समीक्षा आवश्यक है कि इस शक्ति का प्रयोग वह क्या किसी उदात्त मानवीय मनोभावों के विकास के लिए भी करती है या महज इसका प्रयोजन राज्य रूपी व्यवस्था को क्रियाशील रखना ही है। इसके लिए हमें आज की राजनीति की समझ आवश्यक है। राजनीति का एक स्वरूप वह रहा है जिसको लेकर कौटिल्य जैसे विचारक ने यहाँ तक लिख दिया कि 'सर्वे धर्मा: राजधर्मे प्रविष्टा:', ग्रीक परंपरा में भी राजनीति को कुछ ऐसी ही दृष्टि से देखते हुए उसे सभ्यता निर्माण की सर्वोत्कृष्ट कला कहा गया। यह राजनीति का वह स्वरूप था जहाँ राजनीति अर्थव्यवस्था, उद्योग, यंत्र एवं जन-उपभोग (मास कंजंप्शन) की अनुगामिनी राजनीति नहीं थी अपितु वह इन्हें निर्देशित करती थी। इसी कारण सामूहिक मानवीय सहकारों में राजनीति को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त था। राजनीति के इस स्वरूप में ही शक्ति अधिष्ठित थी। हन्ना आरेंट कहती हैं आगे चलकर राजनीति में स्थित शक्ति को हिंसा ने तिरोहित कर दिया।[7] राजनीति में निहित शक्ति का हिंसा से विस्थापन ने एक ऐसे सभ्यतामूलक संकट को जन्म दिया है जिससे पहले तो स्वयं यूरोप में सामुदायिक जीवन और उसके सावयावी मूल्यबोध का ह्रास हुआ और जो अब संपूर्ण विश्व में पश्चिमी मॉडल के अर्थव्यस्था, राजनीति एवम उपभोक्तावाद आधारित पश्चिमी जीवनशैली के अनुगमन के कारण प्रत्येक समाजों के सामुदायिक मूल्यों एवम साहचर्य-आधारित जीवनशैली के ह्रास का कारण बन रहा है।

हन्ना आरेंट ने इस परिवर्तन को समझाने के लिए अनेक चरों का इस्तेमाल किया है। किंतु, जिस बात पर वे सबसे अधिक बल देती हैं वह है 'लेबर'[8] एवं 'वर्क'[9] के द्वारा 'एक्शन'[10] को विजित कर लेना। एक तरह से यह व्याख्या पश्चिमी ज्ञानोदय में परिभाषित अहमवादी-शक्तिकामी मनुष्य और उसकी सेक्युलर जीवनदृष्टि की परिणति समुचित रूप से प्रदर्शित करता है। ऐसे में जब राज्य की सबसे शक्तिशाली शाखा के लिए जो सबसे अधिक वांछित है वह स्वयं की शक्ति का संधान और लेबर तथा वर्क की जरूरतों में मानवजाति को उलझाए रखना। एक तरह से यह मानवजाति के भविष्य को एकरूपता में ढाल देने की ऐसी कोशिश है जिसने मनुष्य के स्वत्व को उससे छीन लिया है। यह भौतिकता के माध्यम से चेतना की निर्मिति का प्रयास है जो कि मानवता के विरुद्ध सबसे बड़ी हिंसा भी है। इसका प्रभाव अब इस रूप में भी प्रकट हो रहा है कि लोक क्षेत्र जो मानवीय चेतना की निर्मिति के सबसे बड़े माध्यम थे वे भी रूपांतरित होकर भौतिक उपलब्धियों के क्षेत्र से जुड़ गए हैं और उनमें निहित लोक साहचर्य का भाव विलुप्त होता जा रहा है। यह संपूर्ण प्रवृत्ति अब्राहमिक परंपरा के सर्वथा अनुकूल भी है किंतु ब्राहमिक परंपरा में अहिंसा को राज्य का मर्म बताया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कार्यपालिका प्रमुख को निर्देशित करते हुए लिखा गया है कि '***सर्वेषामहिंसासत्यंशौचमानसूया नृशंस्यंक्षमाच*** (1/2/3)[11] अर्थात वह सभी के प्रति हिंसा का त्याग करे और पवित्र, दयावान तथा क्षमाशील बना रहे।

अमरकोश में कहा गया है कि "***शक्ति: स्त्री, (शक क्तिन) कायजनन सामर्थ्यम***"

हन्ना आरेंट ने इस परिवर्तन को समझाने के लिए अनेक चरों का इस्तेमाल किया है। किंतु, जिस बात पर वे सबसे अधिक बल देती हैं वह है 'लेबर' एवं 'वर्क' के द्वारा 'एक्शन' को विजित कर लेना। एक तरह से यह व्याख्या पश्चिमी ज्ञानोदय में परिभाषित अहमवादी-शक्तिकामी मनुष्य और उसकी सेक्युलर जीवनदृष्टि की परिणति समुचित रूप से प्रदर्शित करता है। ऐसे में जब राज्य की सबसे शक्तिशाली शाखा के लिए जो सबसे अधिक वांछित है वह स्वयं की शक्ति का संधान और लेबर तथा वर्क की जरूरतों में मानवजाति को उलझाए रखना एक तरह से यह मानवजाति के भविष्य को एकरूपता में ढाल देने की ऐसी कोशिश है जिसने मनुष्य के स्वत्व को उससे छीन लिया है

इसकी व्याख्या करते हुए अगली ही पंक्ति में दुर्गा कल्पद्रुम नागोजी भट्ट कृत देवी महात्म्याम टीका से उदाहरण देते हुए लिखा गया है कि ''या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता'' अर्थात शक्ति देवी का वह रूप है जो सभी भूतों में स्थित है, शक्ति रूपी देवी की सभी भूतों में अवस्थिति है। शक्ति रुपी देवी की सभी भूतों में अवस्थिति में ही 'आत्मवतसर्व सर्वभूतेषु' का आधार है। यह शक्ति की सामूहिक अभिव्यक्ति और वह शक्ति रुपी देवी स्वयं सभी देवताओं की सामूहिक तेजोमय अंश की अभिव्यक्ति हैं। अर्थात शक्ति में जो 'क्षमता' है उसका अधिष्ठान सामूहिकता है। इसी तरह शक्ति रुपी 'क्षमता' से किस तरह के 'परिणाम' को उत्पन्न करने प्रत्याशा है, इस प्रश्न का उत्तर भी अमरकोश में है। जहाँ स्कंद पुराण के उदाहरण से "***शं कल्याणम करोतिति***" का निर्देश दिया गया है। यहाँ शक्ति का वाचार्थ 'शम' धातु 'कृ' प्रत्यय से "शमिधातो संज्ञायाम" से बनता है। इस तरह सनातन परंपरा में सामूहिक स्रोत से सामूहिक कल्याण का परिणाम उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य को शक्ति कहा गया है।

अमरकोश में ही शक्ति को 'शक्तित्रयात्मकः' के माध्यम से शक्ति की तीन कोटियों सत, रज और तम का भी निर्देश दिया गया है। इसी तरह 'विष्णोर्मायया:' के द्वारा माया को भी ईश्वर की शक्ति के रूप में व्यक्त किया गया है। माया को प्रकृति भी कहा गया है अमरकोश में भाव प्रकाश से उदाहरण देते हुए कहा गया है कि "***प्रधानम प्रकृति शक्तिर्नित्या चाविक्रितस्तथा। एतानि तस्या नामानि पुरुषम या समाश्रिता तस्याः गुनानाः सत्वं रजस्तमस्त्रिनी विज्ञेयाः प्रकृतेर्गुनाः।***"

अमरकोश में धर्म को भी शक्ति कहा गया है। अब यहाँ 'शक्तित्रयात्मकः' और 'विष्णोर्मायया:' के रूप में शक्ति के रहस्य को खोल लेना आवश्यक है। इसके लिए आइए कृष्ण और अर्जुन के संवाद का सहारा लेते हैं। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि *सङ्मत्यक्त्वा धनञ्जयः*, अर्थात आसक्ति का त्याग करो अर्जुन। कृष्ण ने यह भी कहा कि *त्रैगुन्य विषयवेदा नैस्त्रैगुन्यो भवार्जुन* अर्थात ज्ञान के विषय में भी त्रिगुणात्मिका बुद्धि से ऊपर उठो और कृष्ण ने यह भी कहा कि अर्जुन जो मैं कह रहा हूँ वही सत्य हैं। वस्तुतः अर्जुन की और प्रकारांतर रूप से आधुनिक दुनिया की समस्या या विषाद यह है कि हम माया को अर्थात प्रकृति या विज्ञान के नियम को मनुष्य के ऊपर और समाज के ऊपर ठीक उसी प्रकार से लागू करने का प्रयास करने लगते हैं जैसा कि इन्हें पदार्थ जगत पर करते हैं। तकनीक से घिरते चले जाने पर जहाँ सिर्फ कार्य की ही दुनिया बचती है और कर्म बहिष्कृत हो जाता है। यह प्रवृति विषाद स्वाभाविक परिणाम है। यह परिणाम हमारे नैतिकिता के नियमों और विचार के ढाँचे को बदल देती हैं। इस साँचे में ढला हुआ मन बंदूक की नाल में दुर्गा माई की चुनरी बाँधकर यह सोचता हैं कि बंदूक की नाल से निकली हुई गोली दुर्गाजी के बाण की तरह अमोघ होगी और वह आध्यात्मिक प्रकृति की होगी।

आज की कार्यपालिका के कार्य करने की प्रकृति भी कुछ इसी तरह की है जिसमें वह आध्यात्मिकता का सहारा लेते हुए दिखाई तो देती है किंतु यह जितना संप्रदाय के अर्थ में धर्म का दलगत प्रयोग होता है उतना यह जनता में आध्यात्मिकता के संचार से अभिप्रेत नहीं होता है। यदि हम प्रतीकों के माध्यम से समझना चाहें तो कह सकते हैं कि जिन्हें राक्षस कहा गया है उनकी राजनीति में हिंसा का अधिवास है और जिन्हें देवता कहा गया है उनकी राजनीति में शक्ति का अधिवास है। आज की कार्यपालिका शाखाएँ जब भी साध्य-साधन का विवेक नहीं करती हैं तब वह वास्तव में राक्षसी राजनीति का ही परिचय दे रही होती हैं। हमारे आर्ष ग्रंथों में ऐसी अनेक कथाओं का उल्लेख है जब राज्य या कार्यपालिका प्रमुख शक्ति आधारित राजनीति से गिरी है और तब उसने इसके परिमार्जन हेतु घोर तप भी किया है। मनुस्मृति में वेन एवं नहुष का उदाहरण देते हुए भी यह बताया गया है कि राजदंड को धारण करने वाले को विकाररहित होना चाहिए अन्यथा राजदंड स्वयं उनका ही नाश कर देता है।[12]

आज के समय में दलगत राजनीति में और चुनावों में विजय प्राप्त करने के लिए जो खेल अब जनता के मस्तिष्क पर कब्जा कर लेने का चलने लगा है उसने राजनैतिक शुचिता के सभी मानदंडों को धूल-धूसरित कर दिया है। प्रतिस्पर्धा और दोषारोपण की राजनीति का माहिर खिलाड़ी जब सत्ता में आता है तब वह अपने झूठ को सच में बदलने की मुहीम में भी लग जाता है और इससे भी कार्यपालिका की शक्ति बढती तथा लोकक्षेत्र भी राजनीतीकृत होकर अपने मूल को खोने लगता है।

राज्य केंद्रित पश्चिमी राष्ट्रवाद की अवधारणा ने भी राज्य के पक्ष में कार्यपालिका को जनता में शासकीयता की मनोभावना जागृत करने की अकूत शक्ति प्रदान कर दी है। वस्तुतः जब राष्ट्रवाद के माध्यम से जनता संगठित होती है तब वह राष्ट्र के रूप में शक्ति आधारित राजनीति का संधान करती है। इससे लोक क्षेत्र की भूमिका भी व्यापक भी होती है और उसमें उदात्त साहचर्य को भी प्रतिष्ठा मिलती है। किंतु राष्ट्रवाद को जब शासन के लिए वैधता उत्पन्न करने के लिए शासक वर्ग द्वारा इस्तेमाल में लाया जाता है तब यह विघटनकारी एवं विनाशकारी ही साबित होता है। इसी कारण जनता में राष्ट्रवाद और शासक वर्ग द्वारा प्रक्षेपित राष्ट्रवाद में अंतर किया जाना आवश्यक है। अवांतर रूप से इस अंतर को प्रकट करते हुए रविन्द्रनाथ टैगोर ने प्राचीन समाजों के राष्ट्रवाद को हैंडलूम टाइप ऑफ नेशनलिज्म और आधुनिक समाजों के राष्ट्रवाद को पॉवरलूम टाइप ऑफ नेशनलिज्म कहा है। यह जो पॉवरलूम टाइप ऑफ नेशनलिज्म है वह राज्य रूपी मशीन में व्यक्ति को पुर्जे की भांति फिट कर देता है जहाँ वह अपने मानवीय एवं चेतन स्वत्व से रहित होकर भौतिक उपादान की तरह बन जाता है। आधुनिक समाजों में इस प्रकार के राष्ट्रवाद को कार्यपालिकाओं ने अपनी रक्षा के लिए बढ़ावा दिया है।[13]

राज्य की कार्यपालिका शाखा की बढती हुई शक्तियों के बचाव में भी अनेक तर्कों का प्रयोग किया जाता रहा है। मसलन आज की जो 'एनजीओ' प्रतिमान की सिविल सोसाइटी हैं उन्हें लोक क्षेत्र का संवाहक एवं परिपूरक बताया जाता है और यह

तर्क दिया जाता है कि यह सब राज्य की कार्यपालिका शाखा के साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप लोकवृत्त की शक्ति बढ़ी है। इसी संदर्भ में 'पीपीपी' की भी बात की जाती है। किंतु बचाव का यह तर्क रोबर्ट मैकनमारा के प्रयत्नों से विश्व बैंक के द्वारा शुरू किए गए स्वयंसेवी संगठनों के पीछे की राजनीति के प्रति उदासीनता का ही प्रदर्शन है। वस्तुत: ऐसे स्वयंसेवी संगठनों के आर्थिक हित पश्चिमी आर्थिक संरचनाओं की अनुगामिनी हैं और उनके प्रति पनप रहे जन आक्रोश को बिखेर देने के माध्यम भी हैं। इसके विपरीत परंपरागत रूप से भारत में मंदिर, आश्रम, जाति, हाट, मेले, गुरुकुल, तीर्थ, त्यौहार आदि नागरिक समाज या लोक क्षेत्र के ऐसे सशक्त माध्यम रहे हैं जो राजनैतिक सत्ता की अपेक्षा जन भावनाओं पर अधिक नियंत्रण रखते थे और जो राजनैतिक सत्ता को भी पथभ्रष्ट होने से रोकते थे। इनकी भाषा तब धर्म की भाषा होती थी और इनका मानवीय सरोकारों से संबंध था। किंतु पश्चिमी प्रतिमान की विकास की आंधी और औपनिवेशिकता के प्रभाव में आकर अब इनकी भाषा भी राजनीति की भाषा हो गई है और यह सत्ता संधान के छुपे हुए माध्यमों की तरह कार्य करने लगे हैं। जिसके कारण अब राज्य की कार्यपालिका शाखा पर सामाजिक दबाव कम हो गया है।

बहुधा प्राचीन भारत में विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध अनेक अवसरों पर तत्कालीन राज्य की विफलता को आधार बनाकर भी कार्यपालिका शाखा के सशक्तीकरण की माँग की जाती है। यह माँग भी तथ्यों एवं परिप्रेक्ष्य की सही समझ को नहीं प्रदर्शित करता है। वस्तुत: अनेक ऐसी विफलताओं की पड़ताल करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आक्रमणकारी की अपेक्षा हमारी शक्ति अधिक थी किंतु उस शक्ति का नियोजन हमने ठीक से नहीं किया। आधुनिक भारत में कार्यपालिका शाखा की प्रभावशीलता, त्वरित क्रियान्वयन आदि को लेकर कई बार संसदीय शासन प्रणाली की जगह अध्यक्षीय शासन-प्रणाली की भी वकालत की जाती रही है। किंतु, संरचना को बदल देना ही कोई हल नहीं है। बल्कि, विचारणीय यह है कि जिस दुनिया में हम आज रह रहे हैं वहाँ चार हजार से कम परिवारों में दुनिया की दो तिहाई से अधिक पूँजी केंद्रित हो चुकी है क्या आज का राज्य जन सरोकारों को आधार बनाकर इस आर्थिक संरचना को प्रभावित कर सकता है अथवा वह स्वयं इस आर्थिक संरचना का पोषण करने का एक माध्यम बन गया है।

भारत में गांधी एवं दीनदयाल उपाध्याय ने यंत्र, उद्योग, केंद्रीकरण और अतिशय उपभोग की विसंगतियों को बारीकी से समझा था। वे इस चौकड़ी के दूषित प्रभावों से बखूबी परिचित थे और यह समझते थे कि यह चौकड़ी न तो राजनीति का भारतीयकरण करने देगी और न ही राजनैतिक शक्ति को सेवा का माध्यम बनने देगी। राजनीति को जन सेवा का माध्यम बनाए बिना कार्यपालिका के द्वारा निष्पादनता से अधिक शक्ति की आकांक्षा में कोई सुधार प्राय: दूर की कौड़ी ही है।

संदर्भ

1. लार्ड हेवर्ट (1929), द *न्यू डिस्पोटिज्म*, अर्नेस्ट बेनिन लिमिटेड, लन्दन.
2. लार्ड हेवर्ट (1929), द *न्यू डिस्पोटिज्म*, अर्नेस्ट बेनिन लिमिटेड, लन्दन, पृष्ठ, 17.
3. देखें, उक्त पुस्तक का एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ नामक अध्याय.
4. एस. एल. वर्मा (2008), *एडवांस्ड मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी*, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ, 61-65.
5. देखें, माइकल सैंडल (1982), *लिबरलिज्म एंड लिमिट्स ऑफ जस्टिस*, कैम्बिज यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.
6. माइकल सैंडल (1984), द *प्रोसिजरल रिपब्लिक एंड द अनइनकम्बर्ड सेल्फ, पोलिटिकल थ्योरी*, भाग-12, अंक-1.
7. देखें, हन्ना आरेंट (1998), द ह्यूमन कंडीशन, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, एवं *न्यू यार्क रिव्यु*, 27 फरवरी 1969.
8. लेबर के बारे में वे कहती हैं कि यह वह गतिविधि है जिसका संबंध मनुष्य के शरीर कि जैविक प्रक्रिया से है। शरीर की वृद्धि और चयापचयी जरूरतों की पूर्ति का यह आधार है और इसीलिए श्रम की मानवीय दशाएं अपने आप में खुद जीवन हैं। हन्ना आरेंट (1998), द *ह्यूमन कंडीशन*, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, पृष्ठ, 5-8.
9. वर्क को स्पष्ट करते हुए हन्ना आरेंट कहती हैं कि वर्क वह गतिविधि है जो मानव अस्तित्व की अस्वाभाविकता से मेल खाती है, जो कि मनुष्य के भीतर नहीं बल्कि बाहर से संबंधित है - यह मानवजाति के जीवन चक्र की पुनरावृत्ति से संबंधित तो है परन्तु इसके नाश से जीवनचक्र रुकता नहीं है। वर्क चीजों की "कृत्रिम" दुनिया का निर्माण करती है, जो सभी प्राकृतिक परिवेशों से अलग है। मनुष्य के लिए यह दुनिया को पार करने के लिए है और मनुष्य मनुष्य का जीवन वर्क की सीमाओं के भीतर है। वर्क की मानवीय स्थिति सांसारिकता है। हन्ना आरेंट, पूर्वोक्त।
10. एक्शन एकमात्र ऐसी गतिविधि है जो बिना किसी मध्यस्थ के मानव जीवन की विविधता से मेल खाती है। जबकि मानव स्थिति के सभी पहलू किसी न किसी रूप में राजनीति से संबंधित हैं परन्तु यह बहुलता विशेष रूप से राजनीति की शर्त है। यह मनुष्य के द्वारा समूह के हित के लिए समूह के साथ शुभ कार्य करने की मनुष्य की स्वाभाविकता है, जिसका आधार स्पीच और एक्शन है। एक्शन या वीटा एक्टीवा ही वह माध्यम है जिससे मनुष्य अपनी विशिष्टता को प्रकट कर सकता है। मानव होने का गर्व मानव एक्शन या वीटा एक्टीवा की विशिष्ट क्षमता के कारण कर सकता है। हन्ना आरेंट ने यहां तक कहा है कि सभ्यताओं का पतन वीटा एक्टीवा के क्षरण के कारण होता है। हन्ना आरेंट, पूर्वोक्त।
11. वाचस्पति गैरोला, स. (2000), *कौटिलीय अर्थशास्त्रम*, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ, 11.
12. *मनुस्मृति*, कुल्लुक भट्ट टीका, 7/41-42.
13. *रविन्द्रनाथ टैगोर* (2005), आमनिबस, भाग-3, रूपा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.

डॉ. चंद्रपाल सिंह

नौकरशाही : एक साम्राज्यवादी संस्था

हमारे देश का प्रशासन मुख्यतः नौकरशाही के हाथों में है। भारत में आधुनिक नौकरशाही के बीजारोपण और विकास का एक अनुशीलन

मूल रूप से 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द का आशय एक कपड़े से था। एक ऐसा कपड़ा जो अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी अधिकारियों के डेस्क को ढंकने के काम में आता था और उनके शासन के बारे में बताता था।[1] इस लेख में 'सिविल सेवा' शब्द का प्रयोग नौकरशाही के साथ उसके परस्पर संबंध को दर्शाने के लिए किया गया है, वास्तव में दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। नौकरशाही में मुख्य सचिव से लेकर निचले डिवीजन क्लर्क तक के कर्मियों का एक पदानुक्रम होता है, लेकिन इस लेख में ब्रिटिश भारत में इंपीरियल सिविल सर्विस (आईसीएस) और स्वतंत्र भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) के शीर्ष स्तर को ही लिया गया है। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि ब्रिटिश नौकरशाही ने 1857 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के साम्राज्यवादी शासन और उसके बाद 1947 तक भारत पर ब्रिटिश क्राउन के साम्राज्यवादी शासन की स्थापना करने, उसको बनाए रखने और मजबूत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अलावा यह आजादी के बाद की समस्याओं पर भी प्रकाश डालता है। भारतीय नौकरशाही में लालफीताशाही की मुश्किलें, उसका नियमबद्ध होना, पहल और नवाचार की कमी, प्रक्रियात्मक मुद्दे और नौकरशाही की औपनिवेशिक उत्पति के साथ ही अभिजात्यवाद शामिल हैं। हालांकि 1940 के दशक में आईसीएस में भर्ती समाप्त हो गई और भारत के आजाद होने के बाद एक नई सेवा, आईएएस का जन्म हुआ। लेकिन आईएएस औपनिवेशिक विरासत को हिलाने में नाकाम रहा।

देखा जाए तो नौकरशाही आंतरिक रूप से राज्य के साथ जुड़ी है इसलिए नौकरशाही की उत्पत्ति का पता हम सभ्यता की शुरुआत से लगा सकते हैं। समय के साथ इसके कार्यों का विस्तार हुआ और अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप के राष्ट्र राज्यों में सिविल सेवाओं की भूमिका में इजाफा हुआ। इसलिए जब अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ उसमें ब्रिटिश नौकरशाही ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह ब्रिटिश शासन बंगाल से शुरू होकर शेष भारत के अधिकांश हिस्से में फैला था। 1765 तक, 'सिविल सेवक' शब्द का उपयोग ईस्ट इंडिया कंपनी के रिकॉर्ड में अपने अधिकारियों की जानकारी देने, नागरिक और सैन्य गतिविधियों में लगे लोगों के बीच अंतर दिखाने में प्रयोग हुआ।[2] शुरू में कंपनी की सिविल सेवा में भर्ती किए गए लोग कंपनी के निदेशकों द्वारा मनोनीत 'लेखक' थे, ज्यादातर ऐसे नामांकन पैसे लेकर बेचे जाते थे और इसलिए नियुक्ति प्रक्रिया निदेशकों के लिए आय का एक जरिया थी। लगभग सभी ऐसे युवा सिविल सेवक भारत में धन इकट्ठा करने के उद्देश्य से आए, जिसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर लूट और भ्रष्टाचार हुआ। जब ये सिविल सेवक ब्रिटेन वापस लौटे तो नवाब कहकर उनका मजाक बनाया गया। भारत में कंपनी के अधिकारियों के भ्रष्टाचार का मुद्दा इंग्लैंड में बड़ा घोटाला बन गया जिसके चलते ब्रिटिश संसद को 1793 के चार्टर अधिनियम में एक कानून पारित करना पड़ा। इस कानून में कंपनी के निदेशकों को शपथ लेने से मना किया गया और कहा गया कि वे उपहारों और पैसों के बदले कोई नामांकन नहीं करेंगे।[3] अंत में 1833 के चार्टर अधिनियम ने फैसला सुनाया कि कंपनी की सिविल सेवा में प्रत्येक रिक्ति के लिए कम से कम चार उम्मीदवारों को निदेशकों द्वारा नामांकित किया जाएगा। और उनमें से एक का चयन

लिखित प्रवेश परीक्षा द्वारा होगा।[4] 1833 के अधिनियम ने उम्मीदवारों की आयु सत्रह से बीस वर्ष के बीच तय की, जिसका अर्थ यह था कि भारत आने वाले अधिकांश लेखकों के पास केवल स्कूली शिक्षा थी लेकिन उनके पास विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं थी। इसके बाद 1853 के चार्टर अधिनियम ने सिविल सेवाओं में खुली प्रतियोगिता के माध्यम से नियुक्तियों का रास्ता खोल दिया। लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में सिविल सेवाओं के लिए उपयुक्त उम्मीदवारों की भर्ती और प्रशिक्षण के तरीकों और साधनों पर सलाह देने के लिए एक समिति बनाई गई।

मैकाले समिति ने अपनी रिपोर्ट 1854 में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट ने योग्यता-आधारित भर्ती की नींव रखी जो आज भी बदस्तूर जारी है।[5] इस समिति ने पहले नई भर्तियों के लिए अठारह और तेईस वर्ष की आयु सीमा की सिफारिश की ताकि उन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा मिल सके। दूसरा उसने उम्मीदवारों का अंग्रेजी भाषा और साहित्य, इतिहास, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, नैतिक और राजनीतिक दर्शन, संस्कृत और अरबी जैसे कुछ विषयों में परीक्षण करने को कहा। तीसरा मैकाले समिति ने सिविल सेवा में उनकी रैंक निर्धारित करने के लिए चयनित उम्मीदवारों की दोबारा जाँच के बाद उनके लिए एक प्रशिक्षण कार्यक्रम भी तैयार किया था।

औपनिवेशिक भारत में सिविल सेवाओं का मुख्य कार्य मातृभूमि से आठ हजार मील दूर, एक ऐसे देश में साम्राज्य स्थापित करना और उसे बनाए रखना था, जिसकी जनसंख्या पूरे यूरोप से अधिक और बेहद विविधता पूर्ण थी। इसलिए सबसे अच्छे और प्रतिभाशाली लोगों की सेवाओं की आवश्यकता थी। ब्रिटिश नौकरशाही, जो कभी भी 1,200 अधिकारियों से अधिक नहीं थी, वह लगभग 50,000 ब्रिटिश सैनिकों की सहायता से, लगभग 30 करोड़ लोगों को संभालने और उन पर शासन करने में सक्षम थी। इस प्रकार उसने अपना उपनाम - 'स्टील फ्रेम'[6] पाया। आईसीएस ने भारत में औपनिवेशिक राज्य की सभी गतिविधियों का निर्देशन किया। उसने राजस्व इकट्ठा किया, भूमि अधिकारों का आवंटन किया, अकाल राहत और कृषि सुधार का निरीक्षण किया, सार्वजनिक सड़कों का निर्माण किया, विद्रोहों को दबाया, कानूनों का मसौदा तैयार किया, अपराधों की जांच की, मुकदमों का फैसला किया, नगर पालिका प्रशासन और कई अन्य गतिविधियों को अपने हाथ में लिया। उसने ब्रिटेन में गृह अधिकारियों द्वारा अनुमोदित नीतियों को भी लागू किया।

वे महत्त्वपूर्ण कड़ी थे-

"निर्देशों की एक स्पष्ट कड़ी रिपोर्टिंग की एक कठोर प्रणाली पर आधारित, सबसे विनम्र ग्रिफिन (एक मिथकीय पशु, जिसका शरीर शेर और मुँह बाज पक्षी जैसा होता है) को हाउस ऑफ कॉमन्स से जोड़ती है। इस भारी-भरकम तंत्र के नीचे आने वाले सहायक कमिश्नरों ने वही किया जो कमिश्नरों ने उनसे कहा; आधा दर्जन डिप्टी कमिश्नर, हरेक अपने-अपने जिले में एक कमिश्नर की देखरेख में काम करते थे; कमिश्नरों को गवर्नर से, गवर्नर के प्रवक्ताओं से, प्रांतीय सचिवालय चलाने वाले सचिवों से आदेश मिलते थे; प्रांतीय सरकारों को वायसराय और उसके पार्षदों से निर्देश मिलते थे; भारत सरकार रत कार्यालय से भेजे गये प्रेषण का पालन करती थी; राज्य सचिव कैबिनेट को सूचना देते थे; और कैबिनेट अपने नौकरशाहों के कार्यों के लिए संसद को जवाब देती थी।"[7]

लगभग एक-चौथाई आईसीएस अधिकारी प्रांतीय सचिवालयों और प्रांतीय विधान परिषदों में कार्यरत थे, जबकि आईसीएस की लगभग आधी ताकत जिलों के प्रशासन व्यवस्था में लगी हुई थी। भारत में ब्रिटिश प्रशासन की प्राथमिक इकाई जिला होने के नाते एक विशिष्ट आईसीएस ने अपनी अधिकांश सेवा जिला कलेक्टर या जिला अधिकारी या जिला मजिस्ट्रेट या डिप्टी कमिश्नर के रूप में, वित्तीय और न्यायिक शक्तियों का आनंद लेते हुए वहाँ बिताई। जिला अधिकारियों के अधिकार क्षेत्र में छोटे-मोटे सिविल और आपराधिक मामले शामिल थे, लेकिन उनके करियर में कुछ पड़ावों पर आईसीएस को उच्च न्यायपालिका में विशेष नियुक्तियां दी गईं। यह सिलसिला तब तक जारी रहा जब तक कि मोंटेग-चेम्सफोर्ड सुधारों ने आईसीएस अधिकारियों पर यह प्रतिबंध नहीं लगा दिया कि उनकी संख्या सभी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती है।[8]

आईसीएस पर भारतीय साम्राज्य पर शासन करने से अधिक अपना प्रभुत्व सुरक्षित रखने का आरोप था। आईसीएस अधिकारियों की नीति निर्माण में बड़ी भूमिका थी और इसे क्रियान्वित करने में उन्हें बड़े विवेक से काम लेना होता था। कई भारतीयों और ब्रितानियों के लिए, आईसीएस अपनी विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्ति के संकेद्रण का राज था।

दूर से शासन करने वाले ब्रिटिश राज की साम्राज्यवादी प्रकृति ने भारत में एक पदानुक्रमित और कठोर नियम-कानूनों से बँधी सिविल सेवा को जन्म दिया। शासन से जुड़ी ये विकृतियाँ बाद में स्वतंत्र भारत की प्रशासनिक मशीनरी में भी जारी रहीं। चूँकि देशी अधीनस्थों के लिए हुए निर्णय पर भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए उनके लिए सभी निर्णयों पर उनके अधिकारियों का अनुमोदन आवश्यक था।

इसी कारण बड़ी संख्या में देशी अधीनस्थों की निर्णय लेने की शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए नियमों और विनियमों का एक लंबा चौड़ा सेट बनाया गया। देशी अधीनस्थों

मैकाले समिति ने अपनी रिपोर्ट 1854 में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट ने योग्यता-आधारित भर्ती की नींव रखी जो आज भी बदस्तूर जारी है। इस समिति ने पहले नई भर्तियों के लिए अठारह और तेईस वर्ष की आयु सीमा की सिफारिश की ताकि उन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा मिल सके। दूसरा उसने उम्मीदवारों का अंग्रेजी भाषा और साहित्य, इतिहास, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, नैतिक और राजनीतिक दर्शन, संस्कृत और अरबी जैसे कुछ विषयों में परीक्षण करने को कहा

से निपटने का दूसरा तरीका निर्णय लेने की प्रक्रिया को केंद्रीकृत करना था। उसी के चलते रिपोर्टिंग की एक विस्तृत प्रणाली के आधार पर, दिशानिर्देशों की स्पष्ट श्रृंखला को सुनिश्चित करने के लिए संगठनात्मक ढाँचे को पदानुक्रमिक बनाया गया।

आईसीएस को प्रतियोगिता के लिए खोले जाने के बाद, यह शिक्षित भारतीयों की सर्वोच्च आकांक्षा वाला बन गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सिविल सेवा का भारतीयकरण एक प्रारंभिक राष्ट्रवादी माँग थी। ईस्ट इंडिया एसोसिएशन ने 1867 में सबसे पहले भारत और ब्रिटेन में एक साथ आईसीएस परीक्षा की माँग उठाई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के बाद 1885 से 1915 तक उसके हर प्रस्ताव में यह माँग शामिल रही।[9]

परीक्षा अब सभी के लिए खुली थी और सेवा में चयन का निर्णय योग्यता सूची के आधार पर होता था। फिर भी भारतीयों के प्रवेश में अभी भी कई मुश्किलें थीं जैसे कि आयु-सीमा, स्थान और परीक्षा की सामग्री। इन सभी को भारतीय आवेदकों से ज्यादा महत्त्व दिया गया। यह प्रत्येक ब्रिटिश संस्थान और बढ़ते भारतीय राजनैतिक वर्ग के बीच विवाद की जड़ बना, जिनके रैंक से अधिकांश भारतीय आईसीएस आकांक्षी आते थे। 1876 में आईसीएस परीक्षा के लिए आयु-सीमा 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी गई। इससे भारतीय उम्मीदवारों के समक्ष बड़ी परेशानी खड़ी हो गई क्योंकि कई क्षेत्रों में व्यक्ति की उम्र की गणना गर्भधारण से की जाती थी, जन्म से नहीं, साथ ही अधिकांश युवा लड़कों ने अपनी शिक्षा देर से शुरू की थी। स्वाभाविक रूप से, इस कदम को भारतीयों ने उन्हें आईसीएस से बाहर रखने की एक व्यवस्था के रूप में देखा क्योंकि आईसीएस की प्रतियोगिता में अर्हता प्राप्त करने के लिए, भारतीयों को पहले भारत में कॉलेज से स्नातक होना था, फिर इंग्लैंड जाकर वहाँ परीक्षा की तैयारी में कम से कम एक वर्ष व्यतीत करना था। साथ ही, परीक्षा का पाठ्यक्रम उन लोगों के पक्ष में बहुत अधिक था जिन्होंने पहले से ही अंग्रेजी पब्लिक स्कूल से शिक्षा प्राप्त की थी। अंत में यह सच्चाई कि परीक्षा केवल इंग्लैंड

परीक्षा अब सभी के लिए खुली थी और सेवा में चयन का निर्णय योग्यता सूची के आधार पर होता था। फिर भी भारतीयों के प्रवेश में अभी भी कई मुश्किलें थीं जैसे कि आयु-सीमा, स्थान और परीक्षा की सामग्री। इन सभी को भारतीय आवेदकों से ज्यादा महत्त्व दिया गया। यह प्रत्येक ब्रिटिश संस्थान और बढ़ते भारतीय राजनैतिक वर्ग के बीच विवाद की जड़ बना, जिनके रैंक से अधिकांश भारतीय आईसीएस आकांक्षी आते थे। 1876 में आईसीएस परीक्षा के लिए आयु-सीमा 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी गई

में आयोजित होती थी, भारतीय आईसीएस उम्मीदवारों के लिए एक बड़ी रूकावट थी। यह एक महंगा और जोखिम भरा कदम था: एक असफल आईसीएस उम्मीदवार हजारों रुपये के कर्ज में आ सकता था, जिसे वापस चुकाने की बहुत कम संभावनाएँ होती थी।

इस प्रकार, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 1919 तक आईसीएस में बड़े पैमाने पर यूरोपीय भाग लेते थे और 1923 तक इंग्लैंड में आयोजित होने वाली परीक्षा अंग्रेजी पब्लिक स्कूल के छात्रों के लिए होती थी। जहाँ तक यूरोपीय लोगों की विश्वविद्यालय पृष्ठभूमि का सवाल है, ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों का प्रभुत्व था। 1914 तक सफल उम्मीदवारों में से 47 प्रतिशत ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से और 29 प्रतिशत कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से थे। वर्ष 1914 के बाद यह आँकड़ा क्रमश: 41 प्रतिशत और 35 प्रतिशत था।[10]

टैगोर परिवार से सत्येन्द्र नाथ टैगोर 1864 में आईसीएस में जगह बनाने वाले पहले भारतीय थे। आईसीएस में भारतीयों की उपस्थिति के संबंधित आँकड़ों से पता चलता है कि 1873:4, 1883:12, 1892:25, 1915:63 तक भारतीय मूल के लोग आईसीएस में सेवा कर रहे थे। वर्ष 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत होने के कारण आईसीएस की भर्ती में भी एक महत्त्वपूर्ण बदलाव आया। 1914 के बाद से लंदन परीक्षा अचानक भर्ती का मुख्य माध्यम नहीं रह गई। इस परीक्षा के माध्यम से होने वाली यूरोपियन उम्मीदवारों की नियुक्ति अचानक से बंद कर दी गई। 1915 से 1924 तक सभी यूरोपीय उम्मीदवारों में से 80 प्रतिशत को परीक्षा द्वारा नहीं बल्कि युद्ध में सेवा करने वाले (और जीवित रहने वाले) व्यक्तियों द्वारा भरा गया था।[11] भारतीय उम्मीदवारों के लिए भारत में परीक्षा की लंबे समय से लंबित माँग तब जाकर पूरी हुई जब 1922 में इलाहाबाद (1928 से दिल्ली में) में एक वार्षिक प्रतियोगी परीक्षा शुरू की गई। उसी वर्ष एक नया चलन शुरू किया गया जिसके तहत परीक्षाओं में असफल अल्पसंख्यक समुदायों के भारतीयों को हिंदू उम्मीदवारों के मुकाबले आईसीएस में नामांकित किया गया। 1922-43 के दौरान आईसीएस में प्रवेश लेने वाले 87 मुसलमानों में से 58 (कुल का 68 प्रतिशत) परीक्षाओं में सफल नहीं थे लेकिन उन्हें आईसीएस के लिए नामांकित किया गया।[12] इन बदलावों के परिणामस्वरूप, 1915 से 1924 के दौरान सभी आईसीएस भर्तियों में 44 प्रतिशत भारतीय थे।[13] हम कह सकते हैं कि आईसीएस का भारतीयकरण 1915 से शुरू हुआ। वर्ष 1939 में आईसीएस में 583 भारतीय कार्यरत थे। 1940 के दशक की शुरुआत में भारतीयों की संख्या पहली बार यूरोपीय लोगों से अधिक हो गई।

प्रथम विश्व युद्ध ने आईसीएस में अंग्रेजी प्रभुत्व को कम कर दिया, लेकिन आईसीएस पंथ को पहला बड़ा झटका 1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के साथ आया। यह झटका इतना बड़ा था कि एक प्रमुख अंग्रेजी आईसीएस ने शोक व्यक्त किया कि सुधार 'भारतीय साम्राज्य को बर्बाद कर देंगे जिसे बनाने में मेरे पूर्वजों ने मदद की थी'।[14] 1919 अधिनियम ने इन निकायों में आधिकारिक भागीदारी की एक सीमा तय कर प्रांतीय और केंद्रीय विधानसभाओं में आईसीएस अधिकारियों के प्रभाव को सीमित

कर दिया। प्रांतों में, स्थानांतरित सेवा के संबंध में आईसीएस सीधे निर्वाचित मंत्रियों के प्रति जवाबदेह थे। 1919 के अधिनियम ने सेवा में भारतीय हिस्सेदारी में क्रमिक वृद्धि की भी सिफारिश की। आईसीएस में ब्रिटिश नई प्रणाली से बहुत निराश थे। जिला अधिकारी के अधिकार में गिरावट आई, ऐसा न केवल गांधीवादी आंदोलनों में बढ़ती राष्ट्रवादी भावना के कारण हुआ, बल्कि इसलिए भी हुआ क्योंकि जिले में राजनैतिक कार्यकर्ताओं के पास अब प्रांतीय सरकार के मंत्रियों के साथ सीधा संवाद था। सेवा में भारतीयों की बढ़ती संख्या को लेकर और भारतीय राजनेताओं के खिलाफ पहले से ही कुछ - कुछ असंतोष था। कुल मिलाकर संदेश यह था कि नीति निर्माण में आईसीएस की भूमिका कम कर दी गई। यह असंतोष इतना बढ़ा कि 1922 में 200 से अधिक लोगों ने सेवा से इस्तीफा दे दिया।[15] आँकड़ों से पता चलता है कि इस अहसास का व्यापक प्रभाव यह हुआ कि कम यूरोपीय उम्मीदवार आईसीएस परीक्षा देने में रुचि रखने लगे।

बढ़ते सेवा असंतोष और घटती भर्ती के मुद्दों की जाँच के लिए 1922 में दो आयोग नियुक्त किए गए - ली आयोग और मैकडोनेल आयोग। मैकडोनेल आयोग ने पाया कि असंतोष आंशिक रूप से 1919 अधिनियम के संबंध में आईसीएस की स्थिति की अनिश्चितता और ब्रिटिश विरोधी भावना में वृद्धि के कारण उपजा है।[16] ली आयोग ने सिविल सेवाओं का मनोबल बढ़ाने के लिए कई उपाय सुझाए - सेवा शर्तों में सुधार, अधिक उदार अवकाश नियम और व्यक्तिगत लाभ। खास बात यह है कि ली आयोग ने 1919 के अधिनियम की स्थिति पर फिर से जोर देते हुए कहा कि नई राजनैतिक वास्तविकताओं से निपटने के लिए जहाँ तक संभव हो भारतीयों और यूरोपीय को समान संख्या में भर्ती किया जाए।[17]

आईसीएस में नई भर्तियों को आकर्षित करने में मिल रही नाकामी ने ब्रिटेन में सभी तरह के राजनैतिक विचारधारा वालों को चिंतित कर दिया। भारत सरकार ने लंदन में कैबिनेट के आदेश के तहत अपनी सर्वोच्चता को फिर से स्थापित करने के लिए कदम वढ़ाया। ली कमीशन ऐसी ही एक प्रतिक्रिया है। ब्रिटिश संसद में, प्रधानमंत्री, लॉयड जॉर्ज ने ब्रिटिश नौकरशाही में पनप रही असुरक्षा को दूर करने और इंग्लैंड में विश्वविद्यालयों और पब्लिक स्कूलों में संभावित उम्मीदवारों को प्रोत्साहित करने के लिए एक उल्लेखनीय भाषण दिया।

"मुझे ऐसा कोई समय नहीं दिखता जब वे (भारतीय) ब्रिटिश सिविल सेवा के इस छोटे से केंद्र, भारत में ब्रिटिश अधिकारियों के मार्गदर्शन और सहायता से बिना रह सकें...

वे पूरी संरचना का स्टील फ्रेम हैं। मुझे इस बात की परवाह नहीं है कि आप इस पर क्या बनाते हैं - यदि आप स्टील फ्रेम को बाहर निकालेंगे, तो पूरी संरचना ढह जाएगी..."

उन्होंने कहा, "भारत में क्या होता है, उस पर हम लगातार नजर नहीं रख सकते.. यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ की सरकार कैसी है। यह आवश्यक है कि उन्हें मजबूत किया जाए, लेकिन इसे मजबूत करने के लिए आप जो भी कुछ भी करते हैं, उसके लिए एक संस्था है जिसमें हम हस्तक्षेप नहीं करेंगे, एक संस्था है जिसे हम पंगु नहीं बनाएंगे, एक संस्था है जिसे हम उसके कार्यों से या इसके विशेषाधिकारों से वंचित नहीं करेंगे, और यह वही संस्था है जिसने ब्रिटिश राज का निर्माण किया - भारत में ब्रिटिश सिविल सेवा।"[18]

ली आयोग की सिफारिशों के कार्यान्वयन और ब्रिटिश सरकार द्वारा आईसीएस के उत्साही बचाव का आईसीएस में यूरोपीय भर्ती पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा, जो बाद में 1920 के दशक में काफी बढ़ गया (1924 में 3 से 1925 में 20, 1926 में 29 और 1927 में 37) लेकिन 1930 के दशक की शुरुआत में (1935 में पाँच) यह फिर से गिर गया।[19] कुल मिलाकर 1930 के दशक की शुरुआत में, आईसीएस में यूरोपीय प्रवेशकर्ताओं की भारी कमी थी जबकि सेवाओं में भारतीयों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी। 1925 और 1935 के बीच कुल भारतीय भर्ती 311 थी जबकि इसी दौरान यूरोपीय भर्ती 255 थी।[20] परिणामस्वरूप भारतीय प्रवेशार्थियों की संख्या कम कर दी गई ताकि आईसीएस में भारतीयों की भीड़ न हो। इसलिए आईसीएस अधिकारियों के लिए औपनिवेशिक ढाँचे में बनाए गए नियंत्रण पदों को धीरे-धीरे छोड़ा जा रहा था।[21]

आईसीएस के इतिहास में अगला मील का पत्थर भारत सरकार अधिनियम, 1935 था। जैसा कि वायसराय लिनलिथगो ने पुनरावलोकन में पाया कि 1935 के अधिनियम को भारत में ब्रिटिश प्रभाव को बनाए रखने का सबसे अच्छा तरीका माना गया, एक दीर्घकालिक दृष्टिकोण से, "भारत को साम्राज्य के अधीन रखने हेतु।"[22] 1935 के संविधान ने सिविल सेवकों को अभूतपूर्व स्तर की संवैधानिक सुरक्षा प्रदान की। पेंशन और वेतन जैसे विशेषाधिकारों के मामले में सुरक्षा उपायों के अलावा, सिविल सेवकों को क्राउन की इच्छा पर सेवा में रखा जाता था और नियुक्ति प्राधिकारी से कमतर प्राधिकारी द्वारा उनकी बर्खास्तगी पर रोक लगा दी गई थी। इसका साफ मतलब था कि भारतीय विधायिकाओं के पास उन्हें बर्खास्त करने

आईसीएस के इतिहास में अगला मील का पत्थर भारत सरकार अधिनियम, 1935 था। जैसा कि वायसराय लिनलिथगो ने पुनरावलोकन में पाया कि 1935 के अधिनियम को भारत में ब्रिटिश प्रभाव को बनाए रखने का सबसे अच्छा तरीका माना गया, एक दीर्घकालिक दृष्टिकोण से, "भारत को साम्राज्य के अधीन रखने हेतु।" 1935 के संविधान ने सिविल सेवकों को अभूतपूर्व स्तर की संवैधानिक सुरक्षा प्रदान की। पेंशन और वेतन जैसे विशेषाधिकारों के मामले में सुरक्षा उपायों के अलावा, सिविल सेवकों को क्राउन की इच्छा पर सेवा में रखा जाता था और नियुक्ति प्राधिकारी से कमतर प्राधिकारी द्वारा उनकी बर्खास्तगी पर रोक लगा दी गई थी

राजनैतिक रूप से तटस्थ सिविल सेवा की अवधारणा, विभाजन और स्वतंत्रता के कठिन दौर में प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने की इसकी क्षमता में विश्वास और किसी भी कीमत पर देश की एकता बनाए रखने की समय की माँग ऐसे कारण थे जिनके चलते वल्लभ भाई पटेल ने स्वतंत्र भारत में सिविल सेवा की निरंतरता का दृढ़ता से समर्थन किया। संविधान सभा में एक तीखी बहस के दौरान, पटेल को कांग्रेस के एक प्रभावशाली समूह को समझाना पड़ा कि देश को आईसीएस अधिकारियों के बिना नहीं चलाया जा सकता। ये समूह भारतीय आईसीएस अधिकारियों को विश्वासघाती सहयोगियों - 'देश के दुश्मन' जिन पर भरोसा नहीं किया जा सकता था के रूप में देखते थे

की शक्ति नहीं थी। सिविल सेवकों को अपने करियर के लिए नुकसानदायक साबित होने वाले किसी भी आदेश या कार्य के खिलाफ वायसराय के पास अपील करने का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम में आईसीएस के लिए विधायी सुरक्षा के प्रावधान भी शामिल थे - कोई भी नियम या अधिनियम सरकार के प्रमुख को किसी सिविल सेवक से जुड़े किसी भी मामले को न्यायसंगत तरीके से निपटने के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता था। सरकार के प्रमुख को 1 अप्रैल, 1937 से पहले अपने आधिकारिक पद पर किसी भी कार्य से संबंधित किसी भी अधिकारी के खिलाफ नागरिक या आपराधिक कार्यवाही से निपटने की अनुमति देने के अधिकार का प्रयोग करने के लिए विवेकाधीन शक्तियाँ भी प्रदान की गई थी।

सत्ता में आने वाले भारतीय राजनैतिक दलों की ओर से राजनैतिक प्रतिशोध के डर की संभावना को देखते हुए सिविल सेवा को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करने का संदर्भ समझ में आता है। औपनिवेशिक राज्य की कार्यकारी शाखा होने के नाते ब्रिटिश नौकरशाही राष्ट्रवादी गतिविधियों और आंदोलनों को दबाने में लगी हुई थी। फिर भी विरोध के इस इतिहास के बावजूद, निर्वाचित विधायिकाओं और आईसीएस में भारतीय राजनैतिक दलों के बीच आश्चर्यजनक रूप से बहुत कम कटुता थी। कांग्रेस मंत्रालय अपनी नीतियों को लागू करने के लिए नौकरशाही पर निर्भर था। और आईसीएस अधिकारियों को सत्ता में कांग्रेस नेताओं से प्राप्त समर्थन से सुखद आश्चर्य हुआ। यह राजनैतिक रूप से तटस्थ सिविल सेवा के रूप में आईसीएस की अवधारणा से संभव हुआ, एक ऐसी सेवा जो अपने राजनैतिक आकाओं के आदेशों को लागू करेगी चाहे वे कुछ भी हों।[23] पूर्व सिविल सेवकों, ब्रिटिश और भारतीय दोनों, के संस्मरण, ब्रिटिश और भारतीय राजनैतिक संस्थानों की जिज्ञासु लेकिन सममित प्रतिक्रियाओं की गवाही देते हैं। अंग्रेजों ने भारतीय आईसीएस अधिकारियों के राष्ट्रवादी विचारों को तब तक सहन किया जब तक वे उनके निजी राय का मामला था और उनके सार्वजनिक कर्तव्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था; जबकि कांग्रेस नेताओं ने राज के समर्थन में आईसीएस अधिकारियों के कामों को सहन किया क्योंकि उन्होंने उसे 'बस अपना काम करने' के रूप में देखा था।

राजनैतिक रूप से तटस्थ सिविल सेवा की अवधारणा, विभाजन और स्वतंत्रता के कठिन दौर में प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाने की इसकी क्षमता में विश्वास और किसी भी कीमत पर देश की एकता बनाए रखने की समय की माँग ऐसे कारण थे जिनके चलते वल्लभ भाई पटेल ने स्वतंत्र भारत में सिविल सेवा (आईसीएस बन गया आईएएस) की निरंतरता का दृढ़ता से समर्थन किया। संविधान सभा में एक तीखी बहस के दौरान, पटेल को कांग्रेस के एक प्रभावशाली समूह को समझाना पड़ा कि देश को आईसीएस अधिकारियों के बिना नहीं चलाया जा सकता। ये समूह भारतीय आईसीएस अधिकारियों को विश्वासघाती सहयोगियों - 'देश के दुश्मन' जिन पर भरोसा नहीं किया जा सकता था के रूप में देखते थे। पटेल की राय में, आईसीएस का कोई विश्वसनीय विकल्प नहीं था। उन्होंने इस सलाह को खारिज कर दिया कि कांग्रेस कार्यकर्ता प्रशासन में नौकरशाहों की जगह ले सकते हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने सिविल सेवा की निष्ठा का स्पष्ट बचाव भी किया:

"...उन साधनों से न उलझें जिनके साथ आप काम करना चाहते हैं। यह नाच न जाने आँगन टेढ़ा जैसी बात होगी। उनसे काम लें. .. कोई भी उस हाल में काम नहीं करना चाहता जब हर दिन सार्वजनिक रूप से उसकी आलोचना और उपहास किया जाता हो... यदि आपने हार मान ली है और निर्णय लिया है कि इनकी सेवाएँ बिल्कुल भी नहीं लेंगे, यहाँ तक कि मेरे वचन के बावजूद भी, मैं सेवाएँ अपने साथ लेकर जाऊँगा।"

"मैं आपको आश्वस्त करना चाहता हूँ कि मैंने इस कठिन समय में उनके साथ काम किया है - मैं भारी जिम्मेदारी के साथ बोल रहा हूँ - और मुझे यह स्वीकार करना होगा कि देशभक्ति के मामले में, वफादारी के मामले में, ईमानदारी और क्षमता के मामले में, आपके पास कोई विकल्प नहीं है। वे भी हमारे जैसे ही अच्छे हैं...मैं इस सदन में यह बात रखना चाहता हूँ कि यदि पिछले दो या तीन वर्षों के दौरान, सेवाओं के अधिकांश सदस्यों ने देशभक्ति और वफादारी के साथ व्यवहार नहीं किया होता, तो संघ ध्वस्त हो गया होता।"[24]

पटेल सिर्फ व्यवहारकुशल ही नहीं थे, देश की अखंडता और एकता की रक्षा के लिए अखिल भारतीय सेवा के महत्त्व पर उनका दृढ़ विश्वास था। इसके साथ ही, उन्होंने इस तथ्य को महसूस किया कि आईसीएस राज के प्रति एक वफादार सिविल सेवा थी, जो उन्हें नए राज्य के लिए उपयोगी बनाती है।

जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्र भारत में सिविल सेवा की निरंतरता की धारणा के कट्टर आलोचक थे। जैसा कि उनकी आत्मकथा में उल्लेख मिलता है, उन्होंने 1934 में दर्ज किया था कि उन्हें "पूरा यकीन" था कि "जब तक भारतीय सिविल सेवा की भावना

है तब तक भारत में कोई नई व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती"। इसलिए यह "आवश्यक था कि आईसीएस और इसी तरह की सेवाएँ पूरी तरह से गायब हो जाएँ"।[25] उसी समय, भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में उनके कार्यकाल में, भारतीय आईसीएस को स्वतंत्र भारत में रहने के लिए आमंत्रित किया गया था और ब्रिटिश राज की कई परंपराओं की तरह, सिविल सेवा की विरासत और परंपराएँ जारी रहीं। दिलचस्प बात यह है कि सिविल सेवा के प्रति नेहरू का विरोध समय के साथ नहीं बदला, हालाँकि वे उसका विकल्प खोजने में नाकामयाब रहे। एक निजी बातचीत के दौरान जब उनसे भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में उनकी सबसे बड़ी विफलता के बारे में पूछा गया, तो उन्होंने जवाब दिया, "मैं प्रशासन को नहीं बदल सका, यह अभी भी एक औपनिवेशिक प्रशासन है"। उन्होंने अपने कथन को उचित ठहराते हुए कहा कि औपनिवेशिक प्रशासन का जारी रहना "भारत में गरीबी की समस्या को हल करने में नाकाम रहने का मुख्य कारण था"।[26] बाद में इंदिरा गांधी ने भी प्रशासन की औपनिवेशिक प्रकृति पर ऐसी ही राय व्यक्त की।[27]

प्रशासन के औपनिवेशिक स्वरूप को लेकर नेहरू की नाराजगी व्यापक संदर्भ में समझ में आती है कि स्वतंत्र भारत अपने औपनिवेशिक बोझ से छुटकारा नहीं पा सका और इसका औपनिवेशिक अतीत इसके समाज और संस्थानों के कई पहलुओं पर लंबी छाया डाले हुए है। भारत में नौकरशाही व्यवस्था काफी हद तक औपनिवेशिक शासन से विरासत में मिली है और इसकी गहरी जड़ें व्यवस्था और व्यवहार में नजर आती हैं जो थोड़े बदलाव के साथ कायम हैं। इस तथ्य को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत के वर्तमान संविधान ने भारत सरकार अधिनियम, 1935 से काफी हद तक उधार लिया है और जैसा कि हमने देखा है कि 1935 अधिनियम ने राजनैतिक वर्ग से नौकरशाही को बड़े पैमाने पर सुरक्षा प्रदान की थी। इस प्रकार ब्रिटिश प्रशासन की खास विशेषताएँ जैसे प्रशासन की बहुत केंद्रित और कठोर पदानुक्रमित संरचना, लालफीताशाही की प्रचुरता और ऊपर से नीचे निर्णय लेने की प्रक्रिया स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन के प्रमुख पहलू बन गए।

भारतीय नौकरशाही में औपनिवेशिक प्रभाव को परिणामों से अधिक नियमों और प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करने के रूप में देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय नौकरशाही लक्ष्योन्मुख होने की अपेक्षा नियमोन्मुखी अधिक है। एक सरकारी कर्मचारी की सबसे बेशकीमती संपत्ति उसकी नौकरी होती है और नौकरी खोने की संभावना उसका सबसे बड़ा डर होता है। यह स्थापित प्रोटोकॉल और नौकरशाही औपचारिकताओं के पालन पर असंतुलित रूप से दबाव देता है जो दक्षता और जवाबदेही में बाधा पैदा करता है। नौकरशाही में पहल और नवप्रवर्तन को कोई स्थान नहीं मिलता। यह मानसिकता समय पर निर्णय लेने और नीतियों के प्रभावी रूप से लागू करने में भी बाधक है।

अंग्रेजों ने शासक वर्ग और प्रजा के बीच स्पष्ट अंतर स्थापित किया, जिससे नौकरशाहों के बीच अभिजात्यवाद और अधिकारिता की संस्कृति पैदा हुई। इस अभिजात्यवाद ने वर्षों से नौकरशाही और उन नागरिकों के बीच एक अलगाव पैदा कर दिया है जिनकी उन्हें सेवा करनी होती है। राज की एक और निरंतरता योग्यता प्रणाली है, सर्वश्रेष्ठ के बीच प्रतिस्पर्धा लेकिन योग्यता पर जोर देने से विविधता और समावेशिता की कमी के साथ-साथ हाशिए पर रहने वाले समुदायों के कम प्रतिनिधित्व को कम करने में मदद नहीं मिली है।

समय की माँग है कि निर्णय लेने के लिए अधिक पारदर्शी, सहभागी और परामर्शी दृष्टिकोण अपनाया जाए, प्रशासन में अभिजात्यवाद और ऊपर से नीचे के दृष्टिकोण को छोड़कर कतार में खड़े अंतिम व्यक्ति को शामिल किया जाए और कुशल, समावेशी और नागरिक-केंद्रित प्रशासनिक मशीनरी को पाया जाए। जब तक भारत औपनिवेशिक विरासत के बंदर को अपनी पीठ से नहीं गिरा देता, तब तक वह दुनिया में अपनी सर्वोच्च स्थिति हासिल नहीं कर सकता।

संदर्भ

1. दास एस.के., द सिविल सर्विसेज इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2013, पृ.VII
2. तदैव, पृ.12
3. तदैव, पृ.14
4. तदैव
5. तदैव, पृ.16
6. तदैव, पृ.39
7. क्लाइव डेवी, ऐंग्लो इंडियन एटीट्यूड्स: द माइंड ऑफ द इंडियन सिविल सर्विस, द हैंबल्डन प्रेस, लंदन, 1993, पृ.3-4
8. अरुद्र वेंकट बर्रा, द इंडियन सिविल सर्विस ऐंड द राज: 1990-1950, एसएसआरएन जर्नल, फरवरी 2007, पृ. 26
9. तदैव, पृ. 93
10. डैविड सी. पॉटर, इंडिया'ज पोलिटिकल एडमिनिस्ट्रेटर्स: फ्रॉम आइसीएस टु आईएएस, ऑक्सफोर्ड प्रेस, नई दिल्ली, पृ.71
11. तदैव, पृ.84
12. तदैव, पृ.91
13. तदैव, पृ.85
14. तदैव, पृ.62
15. बर्रा, यथा उद्धृत, पृ. 41
16. तदैव
17. तदैव, पृ. 98
18. पॉटर, यथा उद्धृत, पृ.88
19. तदैव, पृ.89-90
20. तदैव, पृ.90
21. तदैव, पृ.96
22. कार्ल ब्रिज, होल्डिंग इंडिया टु द एंपायर: द ब्रिटिश कंजर्वेटिव पार्टी ऐंड द 1935 कंस्टीट्यूशन, स्टर्लिंग, नई दिल्ली, 1986 पृ.III
23. बर्रा, यथा उद्धृत, पृ. 83-84
24. https://www.constitutionofindia.net/debates/10-oct-1949/
25. जवाहर लाल नेहरू, ऐन ऑटोबायोग्राफी, पृ.445
26. पॉटर, यथा उद्धृत, पृ.88
27. तदैव

कार्यपालिका की अवधारणा भारतीय परंपरा एवं हमारा संविधान

प्रो. संजीव कुमार शर्मा

डॉ. चंचल

कार्यपालिका की भारतीय अवधारणा वस्तुतः संवैधानिक दृढता की है। एक ऐतिहासिक विश्लेषण

भारत की कार्यपालिका की अवधारणा वस्तुतः हमारी समृद्ध ऐतिहासिक विरासत, प्रशासनिक परंपरा एवं सांस्कृतिक संपन्नता, चिरकालीन सामाजिक प्रथाओं में मनुष्यों की चित्तवृत्तियों, मनोभावों, मनोवृत्तियों में मूल्यों एवं जनाकाक्षांओं की सर्वकालीन स्वीकार्यता में संवैधानिक सुनिश्चितता की परिचायक है, जिसमें शासन के समस्त पदाधिकारी कार्यकारी शाखा के रूप में व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कानूनों एवं नीतियों का क्रियान्वयन करते हैं। विश्वभर की विभिन्न शासन प्रणालियों में कार्यपालिका शब्द राज्य की मुख्य कार्यपालिका एवं परामर्शदाताओं एवं मंत्रियों की ओर संकेत करता है। ब्रिटेन में राजा और मंत्रिमंडल तथा अमेरिका में राष्ट्रपति एवं सचिवों को कार्यपालिका कहा जाता है। भारतीय संविधान में संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है जिसका प्रयोग वह स्वयं एवं अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के माध्यम से करता है। अनुच्छेद 53 के अनुसार राष्ट्रपति कार्यपालिका का पदेन किंतु नाममात्र का अध्यक्ष होता है।[1] वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद् में निहित होती है। भारत शासन अधिनियम, 1935 ने परिसंघ की स्थापना की और भारतीय संविधान ने मुख्यतः ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का अनुसरण किया जिस कारण भारत के राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटेन के राजा के समकक्ष है। ब्रिटेन में राजा का राजमुकुट शासन का प्रतीक है। विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिक संबंधी समस्त शक्तियाँ उसमें निहित हैं। किंतु शासन की समस्त वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिमंडल में ही निहित हैं। भारतीय संविधान में केंद्रीय मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति द्वारा किए जाने वाले सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी है किंतु संविधान का कोई उपबंध राष्ट्रपति को शासन के कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराता है।

भारतीय परंपरा में राजा कार्यपालिका का प्रधान अध्यक्ष है। समस्त राजनैतिक व्यवस्था की वह एक ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर समस्त मंत्रिमंडल चक्कर लगाता है। इसे भिन्न प्रकार से कहा जा सकता है कि समस्त विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिक तंत्र उसी पर आधारित है। प्राचीन वाङ्मय में शासन के समस्त कार्य राजा के नाम पर ही संपादित किए जाते हैं। वह प्रशासनिक संगठनों का निर्माण करके प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्त करता है। मंत्रिपरिषद् एवं अधीनस्थ पदाधिकारियों की सहायता से शासन का संचालन करना राजा का उत्तरदायित्व है।

आधुनिक संविधानों में शासन के अंगों को विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में विभाजित करके 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत का अनुकरण किया गया है। मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत की मान्यता है कि यदि विधायी, कार्यपालिका एवं न्यायिक शक्ति को पृथक-पृथक् नहीं किया जाएगा तो स्वतंत्रता का अंत हो जाएगा। जब न्यायपालिका शक्ति को कार्यपालिका शक्ति के साथ संयुक्त कर दिया जाता है तो न्यायाधीश हिंसा एवं दमन के मार्ग को अपना सकते हैं। स्वतंत्रता को जीवित रखने के लिए आवश्यक है कि सरकार के ये तीनों अंग बिना किसी हस्तक्षेप के अपने-अपने क्षेत्र में कार्य कर सकें। भारतीय परंपरा में सरकार के शक्ति के पृथक्करण की अपेक्षा शक्ति के संयुक्तीकरण पर बल दिया

गया है जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजा कोई काम अकेले नहीं कर सकता है। भारत में शासन के इन अंगों में परस्पर समन्वय एवं इनके क्रियाकलापों में समभाव दिखलाई पड़ता है जो पारस्परिक सहयोग से शासन कार्यों का संचालन करते हैं।

प्राचीन भारतीय परंपरा में कार्यपालिका की अवधारणा नियमानुमोदित एवं पूर्णत: धर्मसंगत है जिसमें मंत्रियों की नियुक्ति में योग्यतम मंत्रियों का चयन करना राजा के लिए वैधानिक अनिवार्यता नहीं बल्कि प्रशासकीय आवश्यकता थी। इसीलिए महाभारत में कहा गया कि बिना मंत्री की सहायता के राजा तीन दिन भी राज्य का संचालन नहीं कर सकता है।[2] राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पतियों पर। राज्य के सफल संचालन में पारस्परिक समन्वय प्रशासन में स्व-अनुशासन की व्यवस्था का भी परिचायक है। महर्षि मनु कहते हैं कि साधारण से साधारण कार्य भी कोई व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता है तो राजकार्य, जो बहुत गुरुतर है, वह बिना दूसरों की सहायता के कैसे पूर्ण किया जा सकता है।[3] आचार्य शुक्र के अभिमत में योग्य राजा भी सभी बातें नहीं समझ सकता क्योंकि प्रत्येक पुरुष-पुरुष में बुद्धि वैभव अलग-अलग होता है। अत: राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा योग्य मंत्रियों को चुने। अन्यथा राजा का पतन निश्चित है। भारतीय परंपरा में नीतियों के निर्माण के पश्चात् नीतियों के क्रियान्वयन के कार्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है जिसमें राजा मंत्रियों के सहयोग से शासन संबंधी नीतियों का संपादन किया करता है। महाभारत में भीष्म पितामह कहते हैं- ***"मंत्रिणां मंत्रमूलो हि राजा राष्ट्रं विवर्धते"*** अर्थात् राज्य का मूल राजा के मंत्रियों की मंत्रणा ही होती है।[4] राजपद पर आसीन तथा सभी विधाओं -आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता एवं दंडनीति में कुशल राजा मंत्रियों के परामर्श के बिना कोई निर्णय नहीं लेता है। उसे राज्य के प्रधान पदाधिकारियों, अमात्यगणों, मंत्रीगणों एवं सभाजनों की सम्मति पर स्थिर होकर ही राजकार्यों को पूर्ण करना चाहिए।

राज्य के संचालन में शक्तियों का तीन अंगों के रूप में विभाजन वस्तुत: एक पाश्चात्य संकल्पना है। पश्चिम ने प्राय: राजतंत्रों के माध्यम से शक्तियों के केंद्रीकरण एवं अधिनायकवादी स्वरूप निरंतर और सर्वत्र देखा है। इसीलिए पाश्चात्य राजनैतिक विचारकों के लिए राजा की शक्तियों पर नियंत्रण और उन शक्तियों को व्यवस्थित रूप से अन्य संस्थाओं और संरचनाओं में विभाजित किया जाना एक अपरिहार्य आवयश्कता थी। इसीलिए संवैधानिकता मूलत: शक्ति पृथक्करण का अभिलेख आधारित विस्तार ही है। भारतीय संविधान विश्व के विद्यमान विधिक अभिलेखों का नैतिक अनुसरण करते हुए शासन के तीन अंगों की पृथकता और विशिष्टता को स्वीकार करता है। भारत में भी संसदीय लोकतंत्र को स्वीकार किए जाने के परिणामस्वरूप शासन के अंगों के रूप में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायापालिका का विद्यमान स्वरूप ही स्वीकार किया गया। इसी के साथ संसदीय व्यवस्था की एक पूर्व आवश्यकता के रूप में शासन के इन तीनों अंगों के मध्य एक लिखित पृथक्करण तथा एक व्यवस्थित शक्ति-वितरण भी अंगीकृत किया गया। इसके परिणामस्वरूप राज्य संचालन हेतु समस्त प्रकार के नीति-निर्माण और विधायन का दायित्व व्यवस्थापिका पर आश्रित हो गया। कार्यपालिका प्रत्यक्षत: नीति-निर्माण के प्रस्तावों को व्यवस्थापिका के समक्ष सामूहिक अनुमोदन हेतु प्रस्तुत करने के दायित्वों से प्रथमत: संयुक्त कर दी गई। यद्यपि संसदीय लोकतंत्र में यह द्वार भी खुला हुआ है कि नीति-निर्माण के लिए कार्यपालिका के अतिरिक्त भी प्रस्ताव विचारार्थ अग्रसर किए जा सकते हैं। परंतु सामान्यत: उनकी प्रस्तुति व्यवस्थापिका द्वारा और व्यवस्थापिका में ही संभव है। इस पृष्ठभूमि में विद्यमान भारतीय संवैधानिक व्यवस्था अपने संसदीय लोकतंत्र के अवतार में कार्यपालिका को मात्र यह सुविधा प्रदान करती है कि वह भी व्यवस्थापिका का एक अनिवार्य अंग है। राष्ट्रपति प्रणाली के अनुरूप कार्यपालिका भारत में एक पृथक् स्वतंत्र इकाई नहीं है। अत: कार्यपालिका मूल रूप में व्यवस्थापिका के अंदर नीति-निर्माण और विधायन के दायित्व से संलग्न रह कर भी स्वीकृत नीतियों के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कार्यपालिका नीतियों का सम्यक् क्रियान्वयन सुनिश्चित करेगी। यह कार्यपालिका राजनैतिक रूप से निर्वाचित जनप्रतिनिधियों से निर्मित होती है। इसीलिए व्यवस्थापिका का अंग होने के कारण वह अपने कार्यों, निर्णयों, नीतियों

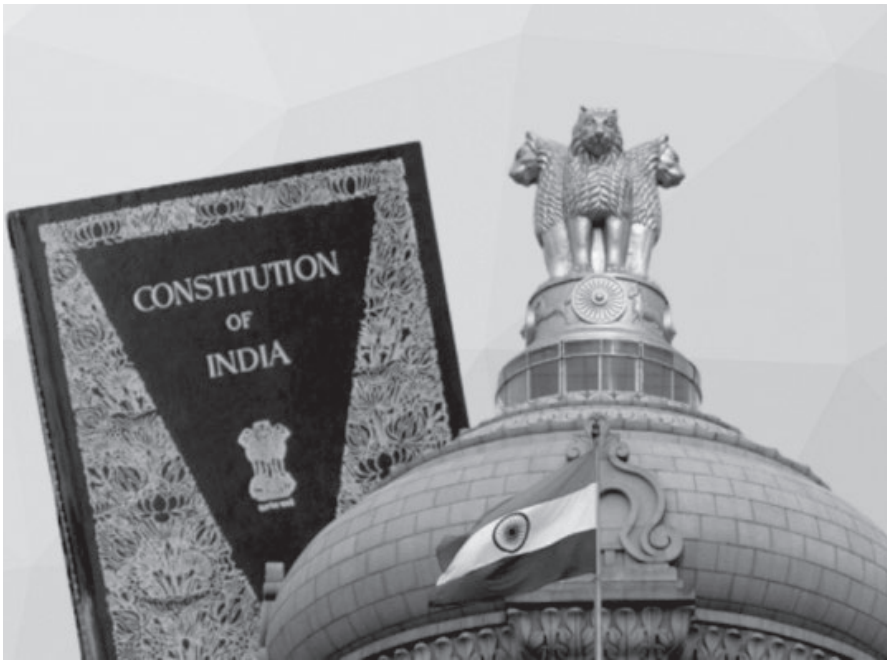

और क्रियान्वयन के लिए सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी भी है। इसे ही संसदीय लोकतंत्र में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत कहा जाता है।

भारतीय परंपरा सामान्यत: इस प्रकार के संस्थागत विभाजन को स्वीकार नहीं करती है। संभवत: इसका एक कारण यह है कि शासन की सबसे पहली संकल्पना के रूप में समाज से स्वत: स्वीकृत राज्य नामक इकाई राजा द्वारा संचालित की गई परंतु इस राजा को किसी भी प्रकार से अनियंत्रित और निर्बाध शक्तियाँ प्रदान नहीं की गई। राजा का चयन समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा समन्वित निर्णय से किया जाता था। कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी सामने आए कि राजा के चयन के उपरांत उसके सम्यक् आचरण में स्खलन को देखकर उसे समाज द्वारा पदच्युत भी किया गया। शक्तियों के दुरुपयोग के अवसरों को न्यनूतम करने के लिए शक्तिसंपन्न राजाओं को भी समाज के प्रबुद्ध वर्गों द्वारा पद से उतारने और नए राजा का समाज-स्वीकृत चयन करने के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त राजा के चयन के समय उसकी योग्यताओं पर भारतीय ज्ञान परंपरा के सभी विचारकों और लेखकों ने बहुत बल दिया। महाभारतकार महर्षि व्यास राजा की अपेक्षित योग्यताओं का विस्तृत वर्णन करते हैं।[5] राजा के रूप में राम की योग्यता का विशद् विवरण वाल्मीकि रामायण में नारद के माध्यम से उपलब्ध होता है। साथ ही वाल्मीकि रामायण के ही अयोध्याकांड के 100वें सर्ग में राम अयोध्या से आए हुए भरत से राजा के रूप में उनके द्वारा किए जा रहे कर्तव्यपालन के विषय के संबंध में कई सौ प्रश्न पूछते हैं।[6] शुक्राचार्य राजा के गुणों के विषय में एक वृहद् सूची निर्मित करते हैं।[7] मनु ने अपने मानवशास्त्र में राजा की नियुक्ति से पूर्व उनके गुणों के विभिन्न आधार एवं कारक निर्धारित किए हैं।[8] परवर्ती काल में कौटिल्य राजा के अधिकार, दायित्व तथा शक्तियों के साथ-साथ उसकी योग्यताओं को भी विधि वत रेखांकित करते हैं।[9] कामंदक ने अपने राजा में जिन गुणों की अपेक्षा की है वह भी अपने से पूर्ववर्ती विचारकों की परंपरा का अनुसरण ही है।[10]

भारतीय ज्ञान परंपरा के अनुक्रम में राजा के गुणों के अतिरिक्त उससे राज्याभिषेक से पूर्व कराए जाने वाली शपथ भी राजा की शक्तियों पर सार्वजनिक एवं सामूहिक सामाजिक नियंत्रण का प्रतिरूप ही है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में राज्य के उदय के साथ राजा और उसकी शक्ति के उदय ने किसी भी प्रकार राजा को निरकुंश अथवा अधिनायकवादी होने से बचाए रखा। परंपरा से समाज के सभी वर्गों के विषय में नीति-निर्धारण और न्याय की शक्तियों से संयुक्त होकर राजा को यह अभिमान तो हुआ कि वह 'अदण्ड्योऽस्मि' की घोषणा कर सके। परंतु तत्काल ही समाज धर्म उसे 'धर्मदण्ड्योऽसि' के आदेश से नियंत्रित रहने की सूचना भी देता रहा। ऐसे में राजा की कार्यपालिका शक्ति धर्मसंचालित होनी अनिवार्य थी। इस कार्यपालिका शक्ति को किसी भी प्रकार से राजा के नीति-निर्माण और न्याय-निष्पादन से विलग कर नहीं देखा जा सकता। राजा को अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के लिए एक सुगठित और व्यवथित मंत्रिपरिषद पर निर्भर रहना अनिवार्य था। प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिंतकों ने राज्य के संचालन में मंत्रिपरिषद के गठन और उसकी परामर्श के अनुरूप कार्य करने को अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में परिभाषित किया है।

विचारकों ने सैद्धांतिक रूप से यह माना है कि राज्य एक विशाल तंत्र है। उसकी संचालन राजा कदापि अकेले नहीं कर सकता है। सभी प्रकार के अपेक्षित गुणों से संयुक्त होकर भी राजा अपने नीति-निर्माण, न्याय प्रबंधन तथा आदेश अनुपालन के लिए अपनी मंत्रिपरिषद पर निर्भर रहने के लिए बाध्य है। यह भी एक तथ्य है कि मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुरूप कार्य करने की यह विवशता राजा के अधिकारों में किसी भी प्रकार की कटौती नहीं करती है। अपितु यह समाजधर्म को राजधर्म से वरेण्यता प्रदान करने का संकेत है। इसीलिए कार्यपालिका भी मंत्रिपरिषद के रूप में एक स्वतंत्र और अनियंत्रित इकाई नहीं है अपितु वह राजा के राजधर्म के दायित्व निर्वहन में उसकी सहायता करने के लिए तत्पर एक सामाजिक संरचना है जिसमें सदस्यों के रूप में प्रवेश किसी भी विचारक के अनुसार राजा की स्वच्छा पर निर्भर नहीं है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति से पूर्व विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं के माध्यम से उनकी योग्यता, चरित्र, निष्ठा तथा वैचारिक दृढ़ता का भली-भाँति परीक्षण किए जाना भी निर्धारित किया गया था। कौटिल्य इन परीक्षाओं को विस्तार से अपने अर्थशास्त्र में प्रस्तुत करता है। वस्तुत: समकालीन कार्यपालिका के विशाल तंत्र को देखते हुए हमें अनेक वर्षों से भ्रष्टाचार और सत्ता-अभिमुख कार्यपालिका-व्यवहार लोकतंत्र के समक्ष दो महत्त्वपूर्ण चुनौतियों के रूप में दिखाई देते हैं। वर्तमान व्यवस्था में नीतियों के क्रियान्वयन हेतु निर्वाचित राजनैतिक कार्यपालिका के सहयोग के लिए जिस

भारतीय ज्ञान परंपरा के अनुक्रम में राजा के गुणों के अतिरिक्त उससे राज्याभिषेक से पूर्व कराए जाने वाली शपथ भी राजा की शक्तियों पर सार्वजनिक एवं सामूहिक सामाजिक नियंत्रण का प्रतिरूप ही है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में राज्य के उदय के साथ राजा और उसकी शक्ति के उदय ने किसी भी प्रकार राजा को निरकुंश अथवा अधिनायकवादी होने से बचाए रखा। परंपरा से समाज के सभी वर्गों के विषय में नीति-निर्धारण और न्याय की शक्तियों से संयुक्त होकर राजा को यह अभिमान तो हुआ कि वह 'अदण्ड्योऽस्मि' की घोषणा कर सके। परंतु तत्काल ही समाज धर्म उसे 'धर्मदण्ड्योऽसि' के आदेश से नियंत्रित रहने की सूचना भी देता रहा

संस्था को सामान्य नागरिक एक प्रभावशाली तंत्र के रूप में देखते हैं वह लोकसेवा सामान्यत: नौकरशाही कही जाती है।

अनेक बार यह भी देखा गया है कि अपनी अनुभव-शून्यता एवं रुचि-विहीनता के कारण राजनैतिक कार्यपालिका के विचार संसार पर यह नौकरशाही अनायास, अथवा कई बार सायास, कई बार अकस्मात् प्रभुत्व स्थापित कर लेती है। इससे राज्य के संचालन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनेक स्थान पर यह भी देखा गया है कि यह लोकसेवा ही राजनैतिक कार्यपालिका के माध्यम से नीति-निर्माण के व्यवस्थापिका के दायित्वों को भी परोक्ष रूप से हस्तगत कर लेती है। परंतु प्राचीन भारतीय परंपरा में राजधर्म के संचालन में दायित्वों में निर्धारित शक्ति पृथक्करण का कोई स्पष्ट स्वरूप न होते हुए भी अधिकारों की प्रत्यक्ष परिधियाँ दिखाई देती हैं। इसीलिए महर्षि व्यास, मनु और आचार्य कौटिल्य मंत्रिपरिषद के दायित्वों, विभागों, परिधियों, परिक्षेत्रों, शक्तियों, अधिकारों और सीमाओं का रेखांकन करते हैं। आचार्य शुक्र इससे भी आगे जाते हुए राजकीय कार्यों की एक विस्तृत सूची बनाते हुए निर्णयों का एक पदानुक्रम स्थापित करते हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य के प्रमुख लेखकों की रचनाओं का अवगाहन करने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था में राजा के अधिकारों में और उनके प्रयोगों में समुचित सहायता प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार के पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे। राज्य की व्यवस्था में ग्राम स्तर से केंद्रीय स्तर तक कार्यपालिका शक्तियों से संयुक्त अनेक पदाधिकारियों के उल्लेख वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध हैं। उनमें से अनेक के आधुनिक संस्करण हमें वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में दिखाई भी पडते हैं। आधुनिक काल के अनेक प्रान्तों ने अपनी शासन व्यवस्थाओं में वैदिक, औपनिषदिक तथा महाकाव्य-कालीन कार्यपालिका पदाधिकारियों के नामकरण आज भी उसी प्रकार स्वीकार किए हुए हैं। यह भी भारत की सुदीर्घ ज्ञान परंपरा की सनातन एवं अक्षुण्ण स्वीकार्यता के प्रतीक के रूप में दिखाई पडता है। संस्कृत के

प्राचीन भारतीय प्रशासनिक संगठन के लिए मंत्रियों की नियुक्ति, उनकी परीक्षा, कुलीनता, स्थायी निवास, पैतृकता, लोकप्रियता एवं चाारित्रिक योग्यता के आधार पर की जाती थी। राजकार्यों के विधिवत् संचालन के लिए एवं पद की गरिमा को बनाये रखने के लिए आवश्यक था कि व्यक्ति अपेक्षित योग्यता को पूर्ण करता हो। प्राचीन परंपरा में मंत्रियों की मन्त्रणा को परमावश्यक माना गया है। महाभारत में मंत्रियों से अपेक्षा की गई कि वे मनोयोगपूर्वक विचार करने के पश्चात् ही राजा को उचित परामर्श प्रदान करें क्योंकि उनके परामर्श ही राज्य की उन्नति तथा प्रजा को अपने अनुकूल बनाने के आधार है

कवियों ने अपने नाटकों, महाकाव्यों और अन्य रचनाओं में प्राय: अनायास ही राज्य की कार्यपालिका के अनेक पदाधिकारियों के उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास और भास की रचनाओं में राज्य की कार्यपालिका शक्तियों से संयुक्त व्यक्तियों के सार्वजनिक क्रियाकलापों, दायित्वों में विचलन और उन पर राजव्यवस्था की निरंतर दृष्टि के वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

अत: यह भी ध्यातव्य है कि लोक सेवक के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों के आचरण का नियमित निरीक्षण उनकी नियुक्ति से पूर्व किए गये परीक्षण की भांति ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। लोक प्रशासन के वर्तमान विचारकों ने लोक सेवकों की नियुक्ति के साथ-साथ उनकी निर्धारित अवधि में वेतनवृद्धि, पदावनति, पदोन्नति आदि के जो मानक एवं निर्धारक निश्चित किए हैं उनके स्वरूप प्राचीन भारतीय विचारकों के साहित्य में सर्वत्र दिखाई देते हैं। विशेषत: कौटिल्य, शुक्र और याज्ञवल्क्य लोकसेवा के विभिन्न आयामों पर विस्तार में विचार करते हैं। राज्य द्वारा नीतियों के निर्माण और निर्णयों की घोषणा के उपरांत उनका सार्वजनिक प्रकटीकरण तथा समुचित क्रियान्वयन कार्यपालिका के विभिन्न तत्वों का दायित्व है। अत: हमारी ज्ञान परंपरा अनेक स्थानों पर यह भी प्रदर्शित करती है कि उतराधिकार के नियम, समाज के व्यक्तियों के योगक्षेम की व्यवस्था, अबलाओं, अनाथों, विकलांगों, वृद्धों, निराश्रितों आदि के लिए विशिष्ट सुविधाएँ उपलब्ध कराना तथा राज्य के संचालन हेतु आवश्यक आर्थिक उपादान एकत्रित करना, आदि सुनिश्चित किए जाएँ। इसके लिए राज्य की कार्यपालिका कराधान और कर-संग्रहण की सहानुभूतिपूर्ण एवं दयालु संरचना निर्मित करे। अत: सभी प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने कर-संग्रहण और करारोपण के नियोजित कर्मचारियों को प्रदत्त निर्देशों के रूप में अनेक सूत्रों का विधान किया है। राज्य के विभिन्न कार्यों के निष्पादन हेतु धन की आवश्यकता है और इस हेतु धन के संग्रहण एवं राज्य-कोष के सुदृढ़ीकरण को ध्यान में रखते हुए उसके न्यायपूर्ण होने की अनिवार्यता स्थापित की गई है। महर्षि अत्रि राजव्यवस्था के संचालन हेतु समुचित, विधिपूर्वक आचरण करने वालों को प्रोत्साहित किए जाने, नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने, न्यायपूर्ण कोष संग्रह करने, समाज में सबसे पक्षपात रहित व्यवहार किए जाने और राष्ट्र की रक्षा के लिए सर्व प्रकार के प्रबन्ध किए जाने को राज्य संचालन के लिए राजा द्वारा धर्म के रूप में स्वीकार्य पांच मूल तत्वों के रूप में चिह्नित करते हैं।[11]

प्राचीन भारतीय प्रशासनिक संगठन के लिए मंत्रियों की नियुक्ति, उनकी परीक्षा, कुलीनता, स्थायी निवास, पैतृकता, लोकप्रियता एवं चारित्रिक योग्यता के आधार पर की जाती थी। राजकार्यों के विधिवत् संचालन के लिए एवं पद की गरिमा को बनाये रखने के लिए आवश्यक था कि व्यक्ति अपेक्षित योग्यता को पूर्ण करता हो। प्राचीन परंपरा में मंत्रियों की मन्त्रणा को परमावश्यक माना गया है। महाभारत में मंत्रियों से अपेक्षा की गई कि वे मनोयोगपूर्वक विचार करने के पश्चात् ही

राजा को उचित परामर्श प्रदान करें क्योंकि उनके परामर्श ही राज्य की उन्नति तथा प्रजा को अपने अनुकूल बनाने के आधार हैं। महर्षि मनु ने राजा को स्पष्ट रूप से निर्देश दिया कि वह किसी कार्य से पूर्व उस विषय में अपने मंत्रियों से परामर्श अवश्य ले। वर्तमान राजव्यवस्था में मन्त्रणा में प्रशासनिक अधिकारियों की भूमिका इसी के समकक्ष है। प्राचीन भारतीय चिन्तक मंत्रिमंडल में सदस्यों की संख्या के विषय में एकमत नहीं है। महाभारत में भीष्म पितामह ने 37 सदस्यों की नियुक्ति का विधान किया[12] तो वहीं मनु मंत्रियों की संख्या सात से आठ निर्धारित करते हैं।[13] कौटिल्य परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या की बात करते हैं। कौटिल्य ने मन्त्रणा के लिए 3 या 4 मंत्रियों की नियुक्ति को उचित माना है।[14] आचार्य शुक्र ने मंत्रिपरिषद के लिए सदस्यों की संख्या दस निर्धारित की है। मध्यकाल में सोमदेव सूरी के मत में मंत्रिमंडल न तो बहुत ही बडा होना चाहिए न ही बहुत छोटा। वह तीन, पांच एवं सात सदस्यों वाले मंत्रिमंडल के समर्थक हैं।[15] प्राचीन ज्ञान परंपरा में नीतियों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक मंत्रिमंडल के दो स्वरूपों का प्रकटीकरण होता है। एक, स्वरूप में मंत्रिमंडल के संगठन का आकार वृहद् है वहीं दूसरा, बड़े मंत्रिमंडल के अंतर्गत ही छोटे स्वरूप को धारण किए हुए है। इस प्रकार के मंत्रिमंडल की राजकार्यों में विशेष भूमिका होती है। शीघ्र, जटिल एवं दूरगामी प्रभाव वाले निर्णय इन्हीं मंत्रियों की मन्त्रणा से किए जाते हैं। ये अपनी योग्यता एवं प्रवीणता के कारण मंत्रभेद को प्रकट नहीं करते हैं एवं व्यवस्था के प्रति इनका विश्वास, आस्था एवं उत्तरदेयता विशिष्ट कोटि की होती है। आधुनिक समय की कैबिनेट व्यवस्था का अस्तित्व इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

महाभारत महाकाव्य में शासन के संगठन में सैंतीस मंत्रियों के अतिरिक्त अट्ठारह प्रकार के तीर्थो की व्यवस्था पदानुक्रमानुसार की गई है- मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अंतर्वैशिक, कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सचिव, प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकर्ता, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राज्य सीमापाल एवं वनरक्षक। मनुस्मृति में प्रशासनिक अधिकारियों की विधिवत सूची तो उपलब्ध नहीं है[16] लेकिन मनु पदसोपानीय व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। उनके विभागों के अध्यक्ष प्रत्यक्ष रूप राजा से सम्बद्ध न होकर विभाग के मंत्रियों एवं सचिवों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वर्तमान समय की प्रशासनिक व्यवस्था के पदसोपान, आदेश की एकता, नियंत्रण की सीमा जैसे सिद्धान्तों को जिन्हें प्रशासनिक संगठन का आधार माना है, उनके विधिवत् स्वरूप की चर्चा मनु सहस्रों वर्षों पूर्व करते हैं। आचार्य कौटिल्य ने भी पदाधिकारियों के संगठन को अष्टादश तीर्थ कहा है। उन्होंने इन तीर्थों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है- मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अंतर्वैशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक, कार्मातिक, दण्डपाल, अंतपाल, दुर्गपाल एवं आटविक। शुक्रनीति में अधिकारियों को प्रकृति की संज्ञा प्रदान की गई है। उनके अनुसार पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पंडित, सुमन्त्रक, अमात्य एवं दूत ये दस राजा की प्रकृति हैं।[17]

प्राचीन भारतीय चिन्तन में प्रशासनिक कार्यों में मंत्रियों की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। इसीलिए राजा को स्पष्ट निर्देश दिया गया कि वह राजपदाधिकारियों की नियुक्ति का कार्य अत्यंत सतर्कतापूर्वक एवं उनकी योग्यतानुसार ही करे। राजा का पुनीत दायित्व था कि वह नियुक्त पदाधिकारियों का भी समय-समय पर परीक्षण अवश्य करे क्योंकि शासन के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन इन पदाधिकारियों का प्रत्यक्ष संबंध प्रजा से हुआ करता था। यही पदाधिकारी राजकार्यों की सूचना प्रजा तक प्रेषित किया करते थे और प्रजा की समस्याओं और कठिनाईयों को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया करते थे। जिस कारण नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन में इनकी भूमिका अग्रणी थी। इसीलिए राजा का कर्त्तव्य था कि वह इन पदाधिकारियों की नियुक्ति के पश्चात् भी गुप्तरीति से परीक्षण अवश्य ही करे। उस समय इसके लिए उपधा प्रणाली का प्रचलन था[18] जिसमें राजा धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा एवं भयोपधा के माध्यम से वह जांच करता है कि नियुक्त पदाधिकारी युक्तिसंगत रूप में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं अथवा नहीं। यदि कोई पदाधिकारी अपने पद या शक्ति का दुरुपयोग किया करता था तब राजा द्वारा ऐसे पदाधिकारी से मन्त्रिपद वापस ले लिया जाता था।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मंत्रियों का पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। राज्य में मंत्री ही सभी कार्यों के स्रोत थे। वह प्रजा के योगक्षेम संबंधी, प्रजा के कल्याण संबंधी, बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से रक्षण संबंधी, कर संग्रह संबंधी, व्यसनों के प्रतिहार, आय व्यय का निरीक्षण, युवराज की रक्षा, इत्यादि कार्यों का संपादन किया करते थे। राज्य की आन्तरिक व्यवस्था में राज्य की निर्भरता कोष पर आश्रित हुआ करती थी। कोष का संग्रह एवं आय-व्यय पर नियंत्रण संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य अमात्य पर निर्भर

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मंत्रियों का पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। राज्य में मंत्री ही सभी कार्यों के स्रोत थे। वह प्रजा के योगक्षेम संबंधी, प्रजा के कल्याण संबंधी, बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से रक्षण संबंधी, कर संग्रह संबंधी, व्यसनों के प्रतिहार, आय व्यय का निरीक्षण, युवराज की रक्षा, इत्यादि कार्यों का संपादन किया करते थे। राज्य की आन्तरिक व्यवस्था में राज्य की निर्भरता कोष पर आश्रित हुआ करती थी। कोष का संग्रह एवं आय-व्यय पर नियंत्रण संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य अमात्य पर निर्भर रहा करते थे। राज्य के धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यों में मंत्रियों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है

रहा करते थे। राज्य के धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यों में मंत्रियों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। बाह्य व्यवस्था के अंतर्गत मंत्री पर-राष्ट्र सम्बन्धों के संचालन में सन्धि एवं विग्रह का विचार भी किया करते थे और युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भी भाग लिया करते थे। विकट से विकट परिस्थिति का सामना करने में वे सस्क्षम हों इसके लिए प्रशिक्षण के माध्यम से उन्हें तैयार किया जाता था। इसके उदाहरण भी उपलब्ध है कि वे अपनी मन्त्रणा एवं नीतियों से युद्ध को भी स्थगित करा दिया करते थे। महाभारत महाकाव्य में जब अर्जुन ने गान्धार देश पर आक्रमण किया तब वहां की राजमाता ने वृद्ध मंत्री के साथ रण-भूमि में जाकर युद्ध को स्थगित करा दिया था।[19] विपत्ति आने पर राजा को मंत्री विपत्ति से भी मुक्त कराने का प्रयास किया करते थे। महाभारत युद्ध में जब दुर्योधन गन्धर्वों द्वारा बन्दी बना लिये गए तब उनके अमात्यों ने पाण्डवों की सहायता से बन्दी कौरवों को मुक्त कराया था।[20] प्राचीन भारतीय चिन्तन में नीतियों के क्रियान्वयन में पदाधिकारियों के अधिकार अत्यंत विस्तृत थे। वे अपनी सूझ-बूझ, कुशलता, योग्यता, एवं अनुभव से तथा युक्ति-संगत उपायों से राज्य का संरक्षण भी किया करते थे। वे केवल उन्हीं दायित्वों को पूरा नहीं किया करते थे जो पदानुसार उन्हें प्राप्त थे बल्कि वह राज्य के कल्याण से संबंधी अनेक कार्य अपने स्वविवेक से भी किया करते थे। प्राचीन राजप्रणेता इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि राजकार्यों में पदाधिकारियों के पारस्परिक सम्पर्क से उनकी बुद्धि की विलक्षणता का प्रभाव निश्चित तौर पर प्रसारित होता है और अनुभव के कारण पदाधिकारी के गुण-वैशिष्ट्य में अभिवृद्धि होती है और उनमें निर्णय लेने की क्षमता का भी विकास होता है जिनका सदुपयोग राजा द्वारा निश्चित रूप से किया जाना चाहिए। प्राचीन भारतीय चिन्तन में राजकार्यों के लिए निर्धारित अंगों में अर्न्तविरोध के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय अधिक दिखलाई पड़ता है। पारस्परिक संयोजन से ही नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यो को पूर्ण किया जाता था।

प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा में पारस्परिक सहयोग को सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है। राजा एवं मंत्रियों के मध्य संबंध अत्यंत मधुर हुआ करते थे। प्रत्येक अवसर, प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर प्रायः दोनों एक साथ ही दिखाई देते थे। वे केवल मन्त्रणा -गृह या राजसभा में ही नहीं वरन् राजा के समस्त धार्मिक, आर्थिक एवं वैयक्तिक कार्यों में उनकी उपस्थिति महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिए सभी प्राचीन राजप्रणेताओं ने राजा को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वह अपने शासन में अपने मंत्रियों को यथोचित सम्मान प्रदान कर उनके जीवन लिए उपयोगी सभी आवश्यक सामग्री और सुविधाएं प्रदान करे क्योंकि ये राजा के सुसहाय सिद्ध होते हैं।

प्राचीन राजव्यवस्था में वर्णित विचारों का गम्भीर अध्ययन करने से यह आभासित होता है कि वर्तमान समय की अनेक गूढ़ समस्याओं का समाधान पारम्परिक लोकतान्त्रिक एवं प्रशासनिक मूल्यों के अनुरूप अत्यंत सरलता से प्रस्तुत किया गया है। नीतियों के निर्माण कार्य से लेकर नीतियों के निष्पादन तक की समस्त व्यवस्था का विधिवत् उल्लेख प्राचीन परंपरा की स्वीकारोक्ति से ही पूर्ण किया जा सकता है। मानव के व्यवहार की समस्या का निराकरण उसके व्यवहार में सुधार करके ही किया जा सकता है। अतः नीतियों के क्रियान्वयन में पदाधिकारियों की योग्यता के साथ व्यवस्था के प्रति उसकी आस्था का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि प्रशासन की सम्पूर्ण कार्यकुशलता एवं नीतियों के क्रियान्वयन की सफलता इन्हीं पर निर्भर करती है। प्रशासनिक अधिकारियों को केवल विशेषज्ञ ही नहीं बल्कि राजकीय लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्ध होना आवश्यक है तभी प्रजा की समस्त आकांक्षाओं को पूर्ण किया जा सकेगा।

अतः भारतीय परंपरा के साथ भारतीय संवैधानिक व्यवस्था पर दृष्टिपात किया जाये तो यह स्पष्ट है कि वर्तमान राजनैतिक कार्यपालिका और लोकसेवा समेकित रूप से संसदीय लोकतंत्र को आधार एवं शक्ति प्रदान करते हैं। वह भारतीय परंपरा मनुष्यों की भद्र कामना से संयुक्त है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना मूलतः इस भद्र कामना के विभिन्न आयामों को आधुनिक शब्दावली में चिह्नांकित करती है। अतः कार्यपालिका की शक्ति का विस्तार भारत की पारम्परिक विश्व कल्याण भावना का ही विस्तार है। हमारा संविधान अपनी समस्त आधुनिकताओं में विभिन्न स्थानों में भारत की ज्ञान परंपरा के रस से सिक्त दिखाई देता है उसमें सनातन अक्षुण्ण सांस्कृतिक वैभव के सांस्थानिक चिह्न भी हैं। वैचारिक सम्रग दृष्टि के प्रत्यक्ष तन्तु भी हैं। पारम्परिकता के आधुनिक लक्षण भी है और राजधर्म की आधारभूमि भी है।

संदर्भ-

1. *दि कॉन्सटीट्यूशन ऑफ इण्डिया*, बेयर एक्ट, यूनिवर्सल लेक्सिस नेक्सिस प्रा0 लिमिटेड, दिल्ली, पृष्ठ 25
2. महाभारत *शान्तिपर्व*, 7/55
3. मनुस्मृति 7/55
4. महाभारत *शान्तिपर्व*, 83/48
5. द्रष्टव्य शर्मा, संजीव कुमार, *भारत का राजा*, भारतीय विचार मंच, अहमदाबाद, 2021
6. द्रष्टव्य वाल्मीकि रामायण, *अयोध्याकाण्ड*, सर्ग 100
7. द्रष्टव्य *शुक्रनीति*
8. द्रष्टव्य *मनुस्मृति*
9. द्रष्टव्य *कौटिलीय अर्थशास्त्र*
10. द्रष्टव्य *कामन्दकीय नीतिसार*
11. अत्रि संहिता, *दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य हि वर्धनम्* च। अपक्षपातः निजराष्ट्ररक्षा पञ्चौव धर्माः कथिता नृपाणाम्।।
12. महाभारत *शान्तिपर्व*, 85/7-11
13. *मनुस्मृति* 7/54
14. *कौटिल्य अर्थशास्त्र* 15/56
15. *नीतिवाक्यमृत* 10/66-74
16. *मनुस्मृति* 7/61
17. *शुक्रनीति* 2/71-72
18. *कौटिल्य अर्थशास्त्र* 1/9/1-6
19. महाभारत *आश्वमेधिकपर्व* 84/19
20. महाभारत *उद्योगपर्व* 38/18

डॉ. मनोज के झा

नागरिक एवं सैन्य तैयारी का संतुलन: भारत का अनुभव

भारतीय सेना न केवल सीमाओं की रक्षा करने की अपनी मुख्य भूमिका, बल्कि राष्ट्र निर्माण में अपनी भूमिका के लिए भी जानी जाती है। एक रूपरेखा

सैन्य बल को बनाए रखने के पीछे का उद्देश्य आंतरिक और बाहरी दोनों चुनौतियों के मध्य राष्ट्र की सुरक्षा सुनिश्चित करना है, जो लगभग सभी देशों में देखी जाने वाली एक आम प्रथा है। भारत में, सेना ने स्वतंत्रता के बाद से राष्ट्र निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसका योगदान रियासतों को भारतीय संघ में शामिल होने के लिए राजी करने से लेकर विभाजन के बाद बड़े पैमाने पर पलायन के दौरान व्यवस्था बनाए रखने तक है। इसके अतिरिक्त, भारतीय सेना ने 1947-48, 1965, 1971 और 1999 में पाकिस्तान के आक्रमणों को सफलतापूर्वक विफल किया है, जिससे इसकी वीरता और समर्पण का परिचय मिलता है। 1962 के भारत-चीन युद्ध में असफलता के बावजूद, सेना का अनुशासित समस्या-समाधान वाला दृष्टिकोण सराहनीय रहा है। प्रशिक्षित कर्मियों ने न केवल संघर्ष के समय में उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है, बल्कि राष्ट्र निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जैसे-जैसे भारत का कद और प्रभाव वैश्विक स्तर पर बढ़ रहा है, राष्ट्रीय हितों की रक्षा और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए एक सक्षम सेना आवश्यक हो गई है। एक आधुनिक और प्रासंगिक सेना स्थिरता और सुरक्षा सुनिश्चित करती है, सर्वांगीण विकास को सुविधाजनक बनाती है और राष्ट्र निर्माण के प्रयासों में योगदान देती है। इसका धर्मनिरपेक्ष, गैर-राजनैतिक चरित्र एक आदर्श प्रतिदर्श के रूप में कार्य करता है, जो नागरिकों के बीच विश्वास और एकता पैदा करता है और दुनिया भर में देश की सकारात्मक छवि प्रस्तुत करता है। लेकिन ऐसी स्थिति को बनाए रखने के लिए, एक राष्ट्र के पास एक ऐसी सेना होनी चाहिए जो न केवल उसके हितों की रक्षा कर सके बल्कि उसे लंबे समय तक आगे भी बढ़ा सके। आज, भारत खुद को उस विशिष्ट स्थिति में पाता है जहाँ विश्व मंच पर स्वयं की प्रस्तुति में सेना को सकारात्मक भूमिका निभानी आवश्यक है।

मई 2014 में, व्यापक परिवर्तन की प्रत्याशा के बीच, नरेंद्र मोदी ने भारत के प्रधानमंत्री के रूप में अपने पहले कार्यकाल के लिए पदभार संभाला। फिर भी, दिसंबर 2015 तक ही, वरिष्ठ सैन्य कमांडरों के साथ एक अर्धवार्षिक बैठक में एक उल्लेखनीय संबोधन के दौरान, एक दूरदर्शी दृष्टिकोण की झलक दिखाई देने लगी थी। आसन्न नीतिगत बदलावों के बारे में बीच-बीच में अटकलों के बावजूद, मोदी का प्रारंभिक कार्यकाल ठोस रक्षा नीति सुधारों के मामले में निराशाजनक साबित हुआ। विशेष रूप से, सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में रक्षा व्यय चिंताजनक रूप से कम हो गया, जो चीन के साथ देश के भयावह 1962 के संघर्ष से पहले के स्तरों की याद दिलाता है। सार्वजनिक घोषणाओं और दावों के बावजूद, मोदी की रक्षा नीतियाँ अपेक्षाओं को पूरा करने तक ही सीमित थीं जिन्हें कुछ आलोचनाओं का भी सामना करना पड़ा। लेकिन, उनके दूसरे कार्यकाल में वास्तविक क्रियान्वयन शुरू हुआ। कई लोगों को आश्चर्यचकित करते हुए, चीफ ऑफ डिफेंस स्टाफ (सीडीएस) के पद की स्थापना की घोषणा ने भारत के सैन्य परिवर्तन में एक महत्त्वपूर्ण क्षण को चिह्नित किया। इस निर्णय ने रक्षा परिदृश्य को नया रूप देने के उद्देश्य से विकास की एक श्रृंखला को गति दी। संरचनात्मक सुधारों

के अलावा, मोदी के प्रशासन ने भारत के घरेलू रक्षा उद्योग को मजबूत करने को प्राथमिकता दी है, जो ऐतिहासिक रूप से हथियारों के आयात पर भारी निर्भरता से ग्रस्त क्षेत्र है। आत्मनिर्भर भारत पहल के तहत, सरकार ने स्वदेशी रक्षा उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए ठोस प्रयास किए हैं। इस पहल ने सेना और रक्षा उद्योग की मानसिकता में एक आदर्श बदलाव को बढ़ावा दिया है। मोदी के नेतृत्व में सैन्य परिवर्तन का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू विदेश नीति की प्राथमिकताओं को आकार देने में भारतीय सेना की पुनर्परिभाषित भूमिका है - जो पिछले प्रशासनों की हिचकिचाहट और अनिश्चितता से अलग है। इस सरकार ने भारत की विदेश नीति के उद्देश्यों को पाथेय देने में केंद्रीय भूमिका निभाने के लिए सेना को सशक्त बनाया है।

लेकिन, भारत के रक्षा क्षेत्र के लिए दूरदर्शी नीति बनाने में इतना समय क्यों लगा, यह सर्वविदित है। सेना के प्रति प्रधानमंत्री नेहरू के दृष्टिकोण के बारे में व्यक्त की गई भावनाएँ भारत में राजनैतिक नेतृत्व और सशस्त्र बलों के बीच एक जटिल संबंध को उजागर करती हैं। सेना के प्रति कथित तिरस्कार और उपेक्षा के दूरगामी परिणाम हुए हैं, जिसने रक्षा प्रतिष्ठान के भीतर गतिशीलता को आकार दिया है और देश के सुरक्षा तंत्र को प्रभावित किया है। सेना के प्रति प्रधानमंत्री नेहरू की कथित घृणा, रक्षा से संबंधित मामलों में नागरिक अविश्वास या अरुचि की व्यापक धारणा का प्रतीक है। इस दृष्टिकोण ने, राजनेताओं और नौकरशाही की बाद की पीढ़ियों के साथ मिलकर, सेना की शक्तियों, स्थिति और संसाधनों में व्यवस्थित कटौती की है। इस तरह की कार्रवाइयों के परिणाम बहुत गंभीर रहे हैं, जिसमें कर्मियों की गुणवत्ता में उल्लेखनीय गिरावट, सैन्यकर्मियों के भीतर मनोबल गिरना और नेतृत्व के बीच मोहभंग की भावना बढ़ी है।

उजागर किए गए प्रमुख मुद्दों में से एक सैन्य मामलों में नागरिक नौकरशाही का हस्तक्षेप है, जिसने शासन के दो क्षेत्रों के बीच एक असंतुलित संबंध बनाया है। नौकरशाही बाधाओं और पुरानी प्रक्रियाओं ने आधुनिक युद्ध जटिलताओं के अनुकूल होने और अपनी उभरती जरूरतों को प्रभावी ढंग से संबोधित करने की सेना की क्षमता में बाधा डाली है। परिणामतः, सशस्त्र बलों को पुरानी प्रथाओं द्वारा विवश किया गया है, जिससे पुराने उपकरण, गंभीर कमी और अपर्याप्त तैयारी की विशेषता वाली जानबूझकर उपेक्षा की स्थिति पैदा हुई है। इस उपेक्षा के परिणाम कई गुना हैं, जिसमें परिचालन अक्षमता और रणनीतिक कमजोरियाँ दोनों शामिल हैं। पुरानी वस्तुओं की उपलब्धता और उपकरणों की कमी उभरते खतरों और चुनौतियों का प्रभावी ढंग से जवाब देने की सेना की क्षमता को कमजोर करती है। इसके अलावा, सैन्य नेतृत्व और नागरिक नौकरशाही के बीच विश्वास का क्षरण मौजूदा तनाव को बढ़ाता है, रक्षा प्रतिष्ठान के भीतर शिथिलता और ठहराव के चक्र को कायम रखता है। और इसका एक इतिहास है, नेहरू का सेना के प्रति अविश्वास जगजाहिर था, खासकर सेवारत लोगों के बीच। इसका एक स्पष्ट उदाहरण है जब जनरल करिअप्पा ने चीन द्वारा तिब्बत पर नियंत्रण करने के बाद नेफा को सुरक्षित करने की योजना साझा की थी। नेहरू ने गुस्से में इस विचार को अस्वीकार कर दिया और सेना का ध्यान केवल कश्मीर और पाकिस्तान पर केंद्रित करने पर जोर दिया। सरदार पटेल की मृत्यु के साथ ही विरोध के अभाव के संग इस रवैये के कारण 1962 में विनाशकारी भारत-चीन युद्ध हुआ और राष्ट्रीय शर्मिंदगी हुई। दुख की बात है कि सेना ने भी ऐसे फैसले लिए जिनके बारे में उन्हें पता था कि वे गलत हैं। इसे और समझने के लिए हमें थोड़ा पीछे जाना होगा। आजादी के बाद, अगस्त 1947 में भारतीय सेना में 400000 सैनिक होने के बावजूद राजनेता लागत में कटौती करना चाहते थे। उन्होंने जम्मू और कश्मीर ऑपरेशन के बाद सेना की संख्या घटाकर 200000 करने का फैसला किया, जिसका मतलब है कि कई इकाइयां भंग कर दी गईं। 1955 में कमांडर-इन-चीफ की उपाधि हटा दी गई और रक्षा मंत्रालय में महत्त्वपूर्ण निर्णय असैन्य नौकरशाहों करने लगे। रक्षा मंत्री के रूप में कृष्ण मेनन के कार्यकाल के दौरान यह गिरावट जारी रही, सैन्य सुझाओं के बिना निर्णय लिए गए, जिससे हमारी रणनीतिक स्थिति कमजोर हुई।

भारत का नागरिक-सैन्य संबंध औपनिवेशिक विरासत से उपजा है, लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने इस आयाम को नया आकार देने के लिए सुधारों की शुरुआत की। नेहरू के सुधारों में कमांडर-इन-चीफ को किनारे करना और नागरिक निगरानी का विस्तार करना शामिल था, जिससे नागरिक सरकार में सत्ता का केंद्रीकरण हुआ। नेहरू के सुधारों के बावजूद, चुनौतियाँ बनी रहीं, जैसे कि 1962 के भारत-चीन युद्ध जैसे संकटों के दौरान नागरिक हस्तक्षेप। 1962 का भारत-चीन युद्ध भारतीय सैन्य इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण क्षण के रूप में सामने आया, जिसमें नागरिक-सैन्य संबंधों में महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ थीं। नागरिक अधिकारियों पर सैन्य मामलों में अनुचित हस्तक्षेप करने के आरोप लगे, खासकर संघर्ष के दौरान रणनीतिक निर्णयों के संबंध में। नेहरू सरकार के तहत विवादित क्षेत्रों में चौकियाँ स्थापित करने के उद्देश्य से 'फॉरवर्ड पॉलिसी' के कार्यान्वयन की आलोचना की गई, जिसमें संभावित चीनी प्रतिशोध के लिए पर्याप्त तैयारी के बिना सैन्य संसाधनों का अत्यधिक उपयोग किया गया। यद्यपि, ऐसे तर्क भी थे जो यह सुझाव देते थे कि सेना स्वयं चीनी अग्रिम सैन्य बल द्वारा उत्पन्न होने वाली घटनाओं की श्रृंखला के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं थी। मूल कारणों पर अलग-अलग राय होने के बावजूद, युद्ध के परिणाम से पता चला कि नागरिकों की सैन्य मामलों के बारे में समझ सीमित थी और परिचालन मुद्दों पर सैन्य निर्णय को मानने की उनकी प्रवृत्ति थी। यह ढर्रा 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध में भी जारी रहा, जहाँ नागरिक अधिकारियों ने बड़े पैमाने पर परिचालन संबंधी निर्णय सेना को सौंप दिए। जहां इस दृष्टिकोण से कुछ मामलों में सफलता मिली, जैसे कि 1971 का बांग्लादेश मुक्ति युद्ध, वहीं इसके परिणामस्वरूप विफलताएँ भी हुईं, जैसे कि 1984 में

पंजाब में ऑपरेशन ब्लूस्टार और 1987 में श्रीलंका में ऑपरेशन पवन।

नागरिक-सैन्य संबंधों को बेहतर बनाने के प्रयास विशेष रूप से कारगिल युद्ध के बाद भी जारी रहे, जिसमें रक्षा मंत्रालय (MoD) के भीतर एकीकरण की सिफारिशें की गईं। मोदी सरकार ने रक्षा योजना समिति (DPC) की स्थापना करके और 2019 में जनरल बिपिन रावत को पहला चीफ ऑफ डिफेंस स्टाफ (CDS) नियुक्त करके इस मुद्दे को और आगे बढ़ाया। जनरल रावत की नियुक्ति, सैन्य मामलों के विभाग (DMA) के निर्माण के साथ, सरकारी ढांचे के भीतर सैन्य मामलों को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से की गई थी। फिर भी, चुनौतियाँ बनी हुई हैं, विशेष रूप से परिचालन मामलों में नागरिक भागीदारी के संबंध में, जिसके लिए इष्टतम नागरिक-सैन्य संबंधों के लिए बेहतर जानकारी वाले नेतृत्व की आवश्यकता है।

इस संदर्भ में, हमें संवैधानिक ढांचे में नागरिक प्राधिकरण के साथ रक्षा बल के कार्यकारी संबंधों को समझने की आवश्यकता है और यह भी कि मोदी सरकार में चीजें कैसे बदल रही हैं। नागरिक शासन और सैन्य प्राधिकरण के बीच संबंध किसी भी राष्ट्र के राजनैतिक परिदृश्य का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। भारत में, इस आयाम की विशेषता औपचारिक प्रतीकात्मकता और व्यावहारिक कार्यकारी नियंत्रण के बीच एक अद्वितीय संतुलन है। इस संतुलन के केंद्र में प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्यकारी नेतृत्व के साथ-साथ भारतीय सशस्त्र बलों के औपचारिक सर्वोच्च कमांडर के रूप में भारत के राष्ट्रपति की भूमिका है। भारत के संवैधानिक ढांचे में, राष्ट्रपति भारतीय सशस्त्र बलों के सर्वोच्च कमांडर का औपचारिक पद धारण करते हैं। यह पद सेना पर नागरिक प्राधिकरण के लिए राष्ट्र के सम्मान को दर्शाता है और नागरिक नियंत्रण के सिद्धांत को रेखांकित करता है। हालाँकि, यह पहचानना आवश्यक है कि यह भूमिका काफी हद तक प्रतीकात्मक है। जहां राष्ट्रपति कागज पर सैन्य पदानुक्रम के शीर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं व्यावहारिक नियंत्रण और निर्णय लेने का अधिकार कार्यकारी शाखा के पास रहता है। भारतीय सशस्त्र बलों का वास्तविक शासन कार्यकारी शाखा में निहित है, जिसके शीर्ष पर प्रधानमंत्री हैं। सरकार के मुखिया के रूप में, प्रधानमंत्री रक्षा नीतियों को तैयार करने, रणनीतिक निर्णय लेने और सैन्य अभियानों की देखरेख करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह कार्यकारी नियंत्रण सुनिश्चित करता है कि सेना नागरिक प्राधिकरण के अधीन रहे, जिससे भारत के संविधान में निहित लोकतांत्रिक सिद्धांतों की रक्षा हो। नागरिक नेतृत्व और सेना के बीच अन्तरक्रिया को सुविधाजनक बनाना रक्षा मंत्रालय (MoD) का काम है। उग्रवाद का मुकाबला करने और भारत की बाहरी सुरक्षा सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी के साथ, डवक रक्षा-संबंधी मामलों के लिए प्रशासनिक केंद्र के रूप में कार्य करता है। यह राष्ट्रीय हितों की रक्षा के उद्देश्य से रणनीतिक पहलों को लागू करने के लिए नीतियां बनाता है, संसाधनों का आवंटन करता है और सशस्त्र बलों के साथ समन्वय करता है। यहां कुछ उदाहरण दिए गए हैं जो बताते हैं कि भारत के प्रधानमंत्री विभिन्न क्षमताओं में रक्षा बलों का नेतृत्व कैसे करते हैं:

1. नीति निर्माण और रणनीतिक योजना: प्रधानमंत्री, रक्षा मंत्रालय और अन्य संबंधित हितधारकों के साथ मिलकर राष्ट्रीय सुरक्षा चुनौतियों से निपटने के लिए रक्षा नीतियां और रणनीतिक योजनाएं बनाते हैं। उदाहरण के लिए, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा शुरू की गई "मेक इन इंडिया" पहल का उद्देश्य स्वदेशी रक्षा उत्पादन को बढ़ावा देना और विदेशी आयात पर निर्भरता कम करना है, जिससे भारत की रक्षा क्षमताएं और आत्मनिर्भरता मजबूत होगी। यह समझना जरूरी है कि चीन युद्ध के दौरान हमारी आयुध फैक्ट्रियां लगभग बंद हो गई थीं। इससे पता चलता है कि उन दिनों देश में रणनीतिक योजना की कितनी कमी थी।
2. संकट प्रबंधन और निर्णय लेना: संकट या संघर्ष के दौरान, प्रधानमंत्री महत्त्वपूर्ण रक्षा मामलों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया का नेतृत्व करते हैं। उदाहरण के लिए, 2019 में पुलवामा आतंकी हमले के जवाब में, प्रधानमंत्री मोदी ने पाकिस्तान में आतंकवादी शिविरों पर हवाई हमले को अधिकृत किया, जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा हितों की रक्षा में निर्णायक नेतृत्व का प्रदर्शन हुआ।
3. नागरिक निगरानी और जवाबदेही: प्रधानमंत्री लोकतांत्रिक सिद्धांतों और जवाबदेही को बनाए रखने के लिए सशस्त्र बलों की नागरिक निगरानी सुनिश्चित करते हैं। इसका एक उदाहरण रक्षा खरीद प्रक्रियाओं की निगरानी और भ्रष्टाचार और कुप्रबंधन को रोकने के लिए रक्षा खरीद में पारदर्शिता और दक्षता सुनिश्चित करने में प्रधानमंत्री की भूमिका है।
4. अंतरराष्ट्रीय जुड़ाव और रक्षा कूटनीति: प्रधानमंत्री अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं और अन्य देशों के साथ रक्षा कूटनीति और रणनीतिक जुड़ाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए, प्रधानमंत्री मोदी की विश्व नेताओं के साथ बातचीत और रक्षा शिखर सम्मेलनों में भागीदारी रक्षा सहयोग को बढ़ावा देने, सर्वोत्तम प्रथाओं को साझा करने और आम सुरक्षा चुनौतियों से निपटने के लिए रणनीतिक साझेदारी बनाने में योगदान देती है।

प्रधानमंत्री मोदी का खोखले वादों के बजाय कार्रवाई पर जोर, रक्षा और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति उनके दृष्टिकोण और कार्यकारी प्रमुख के रूप में रक्षा बल के साथ उनके संबंधों में स्पष्ट है। जहां ये परिवर्तनकारी सुधार निस्संदेह आवश्यक हैं, वहीं भारतीय सेना की सबसे महत्त्वपूर्ण ताकत इसकी पूर्ण गैर-राजनैतिक प्रकृति और राष्ट्रवाद की वास्तविक भावना में निहित है। भारत को इस अमूल्य संपत्ति का पूरी क्षमता से लाभ उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र के लिए यह सुनिश्चित करना अनिवार्य है कि सेना भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार हो और भारत को वैश्विक मंच पर एक दुर्जेय सैन्य शक्ति के रूप में उभारने के लिए सुसज्जित हो।

डॉ. राहुल चिमुरकर

भारत में संसदीय शासन के सात दशक

कार्यपालिका का बढ़ता वर्चस्व और संसद की घटती भूमिका ने हमारे लोकतंत्र में दायित्व और हिसाबदेही का निरंतर क्षरण किया है। इतिहास का एक सिंहावलोकन

भारतीय राजनैतिक व्यवस्था की नींव संसदीय लोकतंत्र पर टिकी है। अन्य संसदीय प्रणालियों की तरह, भारतीय संसद का विकास एक बहुआयामी संस्था के रूप में हुआ है। यह न केवल लोगों, बल्कि उनके विचारों का भी प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही कानून बनाने, विभिन्न तंत्रों के माध्यम से कार्यकारी की जवाबदेही सुनिश्चित करने जैसे कई काम करती है। कार्यपालिका पर संसदीय अवलोकन की प्रकृति किसी भी देश में अपनाए गए संवैधानिक ढांचे के आधार पर अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण भारत से बहुत अलग है। भारत में मंत्रिमंडल की जवाबदेही संसद के प्रति होतीहै। पहली परिस्थिति में मंत्रियों को संसद के समक्ष अपनी नीतियों का बचाव करने की कोई बाध्यता नहीं होती है। उन्हें सदन में स्पष्टीकरण देने के लिएन तो बुलाया जा सकता है और न ही उन्हें संसदीय वोट द्वारा पद से हटाया जा सकता है। वैसे भारत जैसी व्यवस्था में, जहाँ मंत्री संसद के प्रति जवाबदेह होते हैं, उनका पद पर बने रहना संसदीय अनुमोदन पर निर्भर करता है। इस वाली परिस्थिति में संसदीय नियंत्रण प्रत्यक्ष और विशिष्ट है। वैसे पिछले कुछ वर्षों में, तनावपूर्ण कार्यपालिका-विधायी संबंधों ने संसदीय कार्यपालिका के प्रश्न पर पुनर्विचार करने को बाध्य किया है क्योंकि इन संबंधों का सीधा असर देश के शासन और इसकी प्रगति पर पड़ता है। इस संदर्भ में यह रिसर्च पेपर आजादी के पिछले 7 दशकों में हमारे संसदीय लोकतंत्र के अनुभव पर प्रकाश डालता है।इस रिसर्च पेपर का उद्देश्य संसदीय लोकतंत्र के कामकाज की अंदरूनी चुनौतियों को जानना है, विशेष रूप से कल्याणकारी मुद्दों के संदर्भ में। यह खोज इस बात के इर्द-गिर्द घूमती है कि क्या इन चुनौतियों का संभावित समाधान भारत के लोकतांत्रिक ढाँचे के अंदर मौजूद है या फिर इसकी हठधर्मिता देश के लोकतांत्रिक नींव के लिए खतरा है। इस पेपर के माध्यम से हमभारत में लोकतंत्र की मजबूती सुनिश्चित करने के लिए संसदीय कार्यपालिका के वैकल्पिक मॉडल का पता लगाने की भी कोशिश करेंगे।

संसदीय लोकतंत्र ही क्यों?

अधिकांश भारतीयों की आम धारणा है कि सरकार के संसदीय स्वरूप का चुनाव संविधान सभा द्वारा सर्वसम्मति से हुआ था जबकि ऐतिहासिक साक्ष्य इस बात का खंडन करते हैं। उस समय ऐसे सदस्य भी थे जिन्होंने इस प्रणाली का विरोध किया और राष्ट्रपति शासन व्यवस्था की वकालत की। प्रोफेसर के टी शाह ने लोकतंत्र की राष्ट्रपति प्रणाली की वकालत की। संसदीय लोकतंत्र में, "कार्यपालिका के पास सदन को दूषित करने की क्षमता होती है; कार्यपालिका सदस्यों के वोटों को उनके द्वारा दिए जाने वाले उपहारों या उपकारों की संख्या के आधार पर, जैसे मंत्री पद, राजदूत पद के रूप में, कौंसलशिप के रूप में और वे कार्यालय जिन्हें प्रदान करना कार्यपालिका की शक्ति में आता है का उपयोग कर प्रभावित करने की स्थिति में होती है।[1] "राष्ट्रपति प्रणाली का समर्थन करने वाले एक अन्य प्रमुख सदस्य शिब्बन लाल सक्सेना ने संविधान सभा में तर्क दिया कि विधायिका

न केवल उन कानूनों को पारित करेगी जिन्हें बहुमत दल आवश्यक समझता है बल्कि विधानमंडल भी कार्यपालिका के अधीन हो जाएगा। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद यह बात कुछ हद तक सही भी साबित हुई। सैयद काजी करीमुद्दीन, राम नारायण सिंह, महबूब अली बेग जैसे अन्य सदस्यों ने राष्ट्रपति प्रणाली को अपना समर्थन दिया। यहाँ तक कि मसौदा समिति के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त होने से पहले डॉ. अंबेडकर ने भी राष्ट्रपति लोकतंत्र का समर्थन किया था। उन्होंने कहा - "इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश कैबिनेट प्रणाली ने ब्रिटिश लोगों को एक बहुत ही स्थिर सरकारी व्यवस्था दी है। सवाल यह है कि क्या इससे भारत में स्थिर सरकारें बन सकेंगी? इसकी संभावना बहुत कम है। जातियों और पंथों के टकराव को देखते हुए, भारत में विधायिकाओं में पार्टियों और समूहों की बहुतायत होना तय है। यदि ऐसा होता हैतो यह संभव है या कहें निश्चित है कि इंग्लैंड में प्रचलित संसदीय लोकतंत्र की प्रणाली, जिसके अंतर्गत कार्यपालिका विधायिका में प्रतिकूल मतदान मिलने पर इस्तीफा देने की बाध्यता होती है, भारत को भी कार्यपालिका की अस्थिरता से नुकसान हो सकता है। समूहों के लिए यह सबसे आसान काम है कि वे लगातार निश्चित अंतराल पर और छोटे उद्देश्यों के लिए खुद को एकजुट और संगठित करें और सरकार को गिरा दें। प्रमुख पार्टियों की वर्तमान एकजुटता के जारी रहने की उम्मीद नहीं की जा सकती है। दरअसल जैसे ही भारत में अंग्रेजों की समस्या हल हो जाएगी, इन पार्टियों को जोड़ने वाला गोंद सूख जाएगा। सरकार का लगातार तख्तापलट अराजकता से कम नहीं है।" उन्होंने आगे कहा, "इन सभी विचारों को एक साथ लेने पर, इसमें कोई दो राय नहीं है कि ब्रिटिश तरह की कार्यपालिका भारत के लिए पूरी तरह से अनुपयुक्त है। जो भारतीय कार्यपालिका के अंग्रेजी स्वरूप के आदी हैं, वे भूल जाते हैं कि यह लोकतांत्रिक और जिम्मेदार सरकार का एकमात्र रूप नहीं है। कार्यपालिका का अमेरिकी रूप भी उतना ही लोकतांत्रिक और जिम्मेदार शासन का स्वरूप है।"[2] अब सवाल उठ सकता है कि फिर उन्होंने संविधान सभा में संसदीय लोकतंत्र की बात क्यों की? 4 नवंबर, 1948 को संविधान सभा में सरकार के स्वरूप पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा- "एक लोकतांत्रिक कार्यपालिका को दो शर्तों को पूरा करना चाहिए- (1) उसे एक स्थिर कार्यपालिका होना चाहिए और (2) उसे एक जिम्मेदार कार्यपालिका होना चाहिए। इन दोनों को समान रूप से हासिल करना संभव नहीं था। अमेरिका जिम्मेदारी से अधिक स्थिरता देता है क्योंकि वह अपने अस्तित्व के लिए कांग्रेस पर निर्भर नहीं है जबकि ब्रिटिश प्रणाली स्थिरता से अधिक जिम्मेदारी प्रदान करती है क्योंकि वह अपने अस्तित्व के लिए संसद पर निर्भर करती है। एक संसदीय कार्यपालिका संसद में बहुमत पर ज्यादा निर्भर होने की वजह से अमेरिका की गैर-संसदीय कार्यपालिका की तुलना में अधिक जिम्मेदार होती है।"[3] चूँकि इन दोनों में से किसी एक को चुनना था और संसदीय लोकतंत्र को चुना गया क्योंकि कार्यपालिका की जिम्मेदारी का आकलन दैनिक और आवधिक दोनों होता है। यह दैनिक मूल्यांकन संसद सदस्यों द्वारा प्रश्नों, संकल्पों, अविश्वास प्रस्तावों, स्थगन प्रस्तावों आदि के माध्यम से होता है।

भारत में संसदीय लोकतंत्र को पोषित और बढ़ावा देने के लिए 1952 से लगातार सरकारों द्वारा कई प्रयास किए गए। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे तथाकथित विकसित देशों के विपरीत, हमनेजिस दिन संविधान लागू किया, उसी दिन सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार को अपनाया। चुनावों को किसी भी संसदीय लोकतंत्र का आधार माना जाता है। भारतीय चुनाव आयोग द्वारा 7 संसदीय चुनावों और 400 से अधिक विधानसभा चुनावों का संचालन करना दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में उसकी सावधानीपूर्वक योजना और निष्पादन को दर्शाता है। 2019 के लोकसभा चुनावों में, अरुणाचल प्रदेश के मैलागोम में केवल एक मतदाता के लिए मतदान केंद्र स्थापित करने हेतु मतदान अधिकारियों की एक टीम ने 300 मील से अधिक की चार दिवसीय यात्रा की। 2024 के आगामी चुनावों में भारतीय चुनाव आयोग लगभग 96 करोड़ मतदाताओं के लिए 12 लाख मतदान केंद्र स्थापित करने वाला है। दूसरा बड़ा कदम 1989 में मतदान की आयु को 21 से घटाकर 18 वर्ष करना था। लोकतंत्र न केवल 'लोगों का प्रतिनिधित्व करता है बल्कि विचारों काभी प्रतिनिधित्व' करता है। बहुदलीय व्यवस्था समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करने की गारंटी देती है। आज की तारीख में हमारे पास 6 राष्ट्रीय

पार्टियां, 56 मान्यता प्राप्त राज्य पार्टियां और 2796 गैर-मान्यता प्राप्त पार्टियां हैं। ये सब भारत में लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए उठाये गये प्रयासों को दर्शाता है। 'इंग्लैंड में कोई विधायिका नहीं है' - सिवाय एक कार्यकारी के, ऐसा लॉर्ड हेल्शाम का दावा था।[4] यह बात भारत के संदर्भ में सत्य है। संसदीय लोकतंत्र के भारत के सात दशकों से अधिक के अनुभव के आधार पर यह देखने को मिला है कि कार्यपालिका के बढ़ते प्रभुत्व और संसद की घटती भूमिका के कारण हमारे लोकतंत्र में कार्यपालिका की जिम्मेदारी और जवाबदेही के सिद्धांत में लगातार गिरावट आ रही है।

धारा 356 का दुरुपयोग

अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को किसी राज्य की कार्यकारी और विधायी शक्तियों को रद्द करने और उन्हें संघ के नियंत्रण में लाने का अधिकार देता है यदि उन्हें लगता है कि राज्य में ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जहाँ राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य करने में असमर्थ है। संवैधानिक ढाँचा टूट गया है या नहीं इसका निर्धारण राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अपनी पहल पर कर सकते हैं। उस काल खंड में जब कांग्रेस पार्टी का राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रमुख स्थान था, अनुच्छेद 356 को अकसर वामपंथी और क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व वाली राज्य सरकारों के खिलाफ प्रयोग किया जाता था। इस अनुच्छेद के अस्तित्व में आने से लेकर 1959 तक, जवाहरलाल नेहरू की सरकार ने छह बार इस अनुच्छेद का उपयोग किया। इसमें 1959 में केरल में पहली निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार को हटाना भी शामिल था। 1960 के दशक में ये अनुच्छेद 11 बार लागू किया गया था। वहीं 1966 में इंदिरा गांधी के सत्ता में आने के बाद, अकेले अनुच्छेद 356 को 1967 और 1969 के बीच सात बार लागू किया गया। 1970 के दशक में काफी राजनैतिक उथल-पुथल देखने को मिली और 1970 और 1974 के दौरान 19 बार राष्ट्रपति शासन लगाया गया। आपातकाल के बाद जनता पार्टी सरकार ने 1977 में इसे लागू किया, जिसके चलते कांग्रेस के नेतृत्व वाली नौ राज्य सरकारें बर्खास्त हो गई। वहीं 1980 में इंदिरा गांधी जब सत्ता में लौटीं तो उनकी सरकार ने नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन भी लगा दिया।[5]

अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को किसी राज्य की कार्यकारी और विधायी शक्तियों को रद्द करने और उन्हें संघ के नियंत्रण में लाने का अधिकार देता है यदि उन्हें लगता है कि राज्य में ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जहाँ राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य करने में असमर्थ है। संवैधानिक ढाँचा टूट गया है या नहीं इसका निर्धारण राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अपनी पहल पर कर सकते हैं। उस काल खंड में जब कांग्रेस पार्टी का राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रमुख स्थान था,अनुच्छेद 356 को अकसर वामपंथी और क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व वाली राज्य सरकारों के खिलाफ प्रयोग किया जाता था

प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने 1992-93 में, अयोध्या में विवादित ढाँचा ढहाने के बाद उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह की सरकार के साथ-साथ भाजपा के नेतृत्व वाली तीन सरकारों को बर्खास्त कर दिया।

केंद्र सरकार ने 1989 में कर्नाटक में एस आर बोम्मई के नेतृत्व वाले प्रशासन को बर्खास्त कर दिया। सुप्रीम कोर्ट ने 1994 में एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ मामले में दिए अपने महत्त्वपूर्ण फैसले में अनुच्छेद 356 के प्रावधानों पर गहन विचार-विमर्श किया। नौ-न्यायाधीशों की खंडपीठ ने अपने फैसले में उन विशिष्ट परिस्थितियों का उल्लेख किया जिनके तहत राष्ट्रपति शासन लगाया जा सकता है और नहीं लगाया जा सकता है।

अदालत ने स्थापना दी कि अनुच्छेद 356 को सरकार गिरने की स्थिति में या 'त्रिशंकु विधानसभा' के मामलों में लागू किया जा सकता है। हालाँकि इसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य सरकार को विधानसभा में अपना बहुमत प्रदर्शित करने का अवसर दिए बिना इस तरह का कदम उठाने की अनुमति नहीं है। इसके साथ ही राष्ट्रपति शासन लागू करना तब तक अनुचित है जब तक राज्य में संवैधानिक तंत्र के विफल होने या उसमें अवरोध पैदा होने के सबूत नहीं।

2016 में बीजेपी सरकार ने इस प्रावधान का दुरुपयोग किया और उत्तराखंड में राष्ट्रपति शासन लगा दिया। यद्यपि उत्तराखंड उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने राज्य में कांग्रेस सरकार को बहाल कर दिया और मुख्यमंत्री हरीश रावत को विधानसभा में बहुमत साबित करने को कहा।

कार्यपालिका द्वारा अनुच्छेद 356 का यह दुरुपयोग हमारे संसदीय लोकतंत्र के एक और प्रमुख सिद्धांत यानी हमारे संविधान में निहित संघीय ढाँचे का उल्लंघन करता है।

दलबदल की राजनीति

चूँकि हमारे लोकतंत्र में कार्यपालिका विधायिका के विश्वास पर निर्भर होती है इसलिए वह दल-बदल और खरीद-फरोख्त की राजनीति में संलग्न रहती है जो भारतीय लोकतंत्र के लिए एक बड़ा धब्बा बन चुका है। यहाँ तक कि विपक्षी राजनैतिक दल भी सरकार गिराने और अस्थिरता पैदा करने के लिए इसका सहारा लेते हैं। अवैध धन का उपयोग करके सांसदों/विधायकों को खरीद-फरोख्त और उन्हें पद या टिकट का वादा करने के की गैर-सैद्धांतिक राजनीति चुनावों में मिले जनादेश और विश्वास को अपमानित करती है और लोकतंत्र को खतरे में डालती है। दलबदल की यह राजनीति राजनैतिक भ्रष्टाचार को बढ़ाने, हिंसा में बढ़ोत्तरी, सरकारी अस्थिरता, बड़े मंत्रालयों व पार्टी प्रणाली संस्थानों में गिरावट और जल्दी-जल्दी व अनावश्यक चुनावों में योगदान देती है। इसके चलते सरकार के वित्तीय संसाधनों पर दबाव बढ़ता है। चार

वर्षों (1967-71) की संक्षिप्त अवधि के दौरान संसद में 142 दलबदल हुए और देश भर में राज्य विधानसभाओं में 1969 दलबदल हुए। बत्तीस सरकारें गिर गईं और 212 दलबदलुओं को मंत्री पद से नवाजा गया।[6] इस तरह की परिस्थिति पर रोक लगाने, दल-बदल पर लगाम कसने और व्यवस्था में स्थिरता लाने के लिए 1985 में दल-बदल विरोधी अधिनियम पारित किया गया। लेकिन कानून में 'विभाजन' और 'विलय' के प्रावधान गलत थे, जिसके चलते सांसदों को अयोग्यता से बचने के लिए एक तिहाई के समूहों में दलबदल करने का रास्ता मिल गया। राजनैतिक दलों द्वारा इसका भरपूर दुरुपयोग करने के बाद, संसद ने इस प्रावधान को हटा दिया और एक धारा शामिल की गई कि किसी अन्य पार्टी के साथ उसकी मूल पार्टी के विलय की स्थिति में अयोग्यता की शर्त लागू नहीं होगी। साथ ही इसमें चेतावनी दी गई कि कुल सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्य इस विलय के लिए सहमत होने चाहिए। महाराष्ट्र में हाल ही में दो क्षेत्रीय दलों, शिवसेना और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (एनसीपी) या अरुणाचल प्रदेश में कांग्रेस विधायकों के दलबदल (2015) को लेकर हुए राजनैतिक नाटक से पता चलता है कि सत्ता के भूखे नेता अपने निजी हितों की खातिर लोगों के जनादेश को भूल जाते हैं और संसदीय लोकतंत्र का मजाक बनाते हैं। उत्तर प्रदेश, कर्नाटक और हिमाचल प्रदेश में राज्यसभा के लिए हाल में हुए चुनावों में भी सीटें जीतने और राज्यसभा में अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए विभिन्न राजनैतिक दलों द्वारा साम, दाम, दंड, भेद का उपयोग देखने को मिला है। यह हमें कार्यपालिका को विधायिका से अलग रखने के लिए विकल्प तैयार करने के बारे में सोचने के लिए मजबूर करता है।

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत को कमजोर करना

भारत में संसदीय लोकतंत्र मंत्रिपरिषद की लोकसभा के प्रति जवाबदेही पर निर्भर होता है। वैसे 1980 के दशक के बाद से इंदिरा गांधी, राजीव गांधी, नरेंद्र मोदी जैसे कद्दावर प्रधानमंत्रियों ने इस सिद्धांत का उल्लंघन किया है और जिसका कारण प्रधानमंत्री कार्यालय का बढ़ता वर्चस्व है। पीएमओ का नेतृत्व आमतौर पर प्रधानमंत्री के सचिव करते हैं, जिसे अब प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव के रूप में नामित किया गया है।[7] प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री अधिकतर कार्य प्रधानमंत्री सचिवालय के माध्यम से करते थे। जब इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री थीं तब उनके कार्यकाल के दौरान, सचिव कार्यालय को अभूतपूर्व शक्ति और अधिकार प्राप्त हुए। यह वास्तविक रूप से निर्णय लेने वाली संस्था के रूप में कार्य करता था जो मूलत: भारत सरकार के रूप में कार्य करती थी। बतौर सचिव एल.के.झा को विदेशी मामलों पर विचार-विमर्श के लिए भेजा गया था। उन्होंने मॉस्को, लंदन, पेरिस और वाशिंगटन में परमाणु अप्रसार संधि पर चर्चा में इंदिरा गांधी का प्रतिनिधित्व किया। यह ऐसे हालात थे जब पीएमओ के साथ एक समानांतर सरकार की तरह व्यवहार किया जाने लगा था और उसे 'प्रधानमंत्री आवास' (पीएमएच) के नाम से जाना जाता था।[8] भारत में गठबंधन की राजनीति के पदार्पण के साथ ही इसे अपने आप अत्यधिक शक्तियां प्राप्त हो गईं क्योंकि यह एक बड़े आकार के मंत्रिमंडल के कार्यों की देखरेख और समन्वय के लिए जिम्मेदार बन चुका है। देवेगौड़ा, आई.के.गुजराल, अटल बिहारी वाजपेयी जैसे प्रधानमंत्रियों ने नीति निर्माण और प्रशासन को सुचारु तरीके से चलाने के लिए प्रधान सचिवों के नोट्स, सलाह और सूचनाओं पर बहुत अधिक भरोसा किया। पीएमओ की शक्ति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 11 मई 1998 को पोखरण विस्फोट के बाद, देश से बात करने वाले पहले व्यक्ति प्रधानमंत्री वाजपेयी के प्रधान सचिव के रूप में कार्यरत ब्रजेश मिश्रा थे, न कि प्रधानमंत्री स्वयं। मौजूदा सरकार ने सशक्त मंत्री समूह और मंत्री समूहों (ईजीओएम और जीओएम) को खत्म कर दिया है, जो बेहतर नीति निर्माण के लिए कैबिनेट को सभी आवश्यक जानकारी और सलाह देते थे। पीएमओ ने कैबिनेट की जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ले ली हैं, जिससे संसदीय व्यवस्था के बुनियादी सिद्धांत कमजोर हो गए हैं। पीएमओ में नौकरशाहों को लगभग सभी मामलों पर निर्णय लेने के सर्वोच्च अधिकार से लैस करना और उनका कैबिनेट पर नियंत्रण रखने का यह प्रयास सामूहिक जिम्मेदारी के सिद्धांत को कमजोर करता है।

भारत में संसदीय लोकतंत्र मंत्रिपरिषद की लोकसभा के प्रति जवाबदेही पर निर्भर होता है। वैसे 1980 के दशक के बाद से इंदिरा गांधी, राजीव गांधी, नरेंद्र मोदी जैसे कद्दावर प्रधानमंत्रियों ने इस सिद्धांत का उल्लंघन किया है और जिसका कारण प्रधानमंत्री कार्यालय का बढ़ता वर्चस्व है। पीएमओ का नेतृत्व आमतौर पर प्रधानमंत्री के सचिव करते हैं, जिसे अब प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव के रूप में नामित किया गया है। प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री अधिकतरकार्य प्रधानमंत्री सचिवालय के माध्यम से करते थे। जब इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री थीं तब उनके कार्यकाल के दौरान, सचिव कार्यालय को अभूतपूर्व शक्ति और अधिकार प्राप्त हुए

संस्थानों का विसंस्थानीकरण

किसी भी लोकतांत्रिक प्रणाली में कामकाज का सुचारु रूप सेचलना न केवल संसद बल्कि अन्य संस्थानों और तंत्र जैसे भारतीय चुनाव आयोग, राष्ट्रपति, न्यायपालिका, सीबीआई, सीवीसी आदि पर भी निर्भर करता है। जवाहरलाल नेहरू को संकीर्ण पार्टी हितों से ऊपर उठकर प्रभावी संस्थानों को बढ़ावा देने और उन्हें स्थापित करने के लिए जाना जाता था। वैसे कई बार उन्होंने भारत निर्वाचन आयोग जैसी स्वतंत्र संस्थाओं के कामकाज में भी हस्तक्षेप

किया। वर्ष 1953 में निर्वाचन आयोग ने लाभ के पद पर आसीन विंध्य प्रदेश विधानसभा के 12 सदस्यों को अयोग्य घोषित करने की सिफारिश की थी। तब नेहरू नेतत्कालीन राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद को पत्र लिखकर कहा कि जरूर कोई तकनीकी त्रुटि हुई है और ये विधायक निर्दोष हैं। बाद में उन्होंने इन विधायकों को अयोग्य होने से रोकने के लिए 13 मई, 1953 को एक विधेयक भी पेश किया और इसे पारित कराया। इसी तरह इंदिरा गांधी ने वर्ष 1975 में सभी लोकतांत्रिक संस्थानों का मजाक उड़ाया जब उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फैसला आने के बाद आंतरिक आपातकाल की घोषणा की थी। इस फैसले में चुनावी कदाचार के आधार पर उनकी लोकसभा चुनाव में रायबरेली सीट परमिली जीत रद्द हो गई थी। तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीन अहमद को कैबिनेट की मंजूरी के बिना घोषणा पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया, मीडिया पर सेंसरशिप लगाई गई और सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीशों को अधिक्रमण करके न्यायपालिका की स्वायत्तता को विफल कर दिया गया। निर्वाचन आयोग और संवैधानिक संशोधन के द्वारा उनका लोकसभा का कार्यकाल एक वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति को लेकर न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच हुई हालिया टकराहट कार्यपालिका की केंद्रीकरण प्रवृत्ति को दर्शाता है। सुप्रीम कोर्ट ने फैसला सुनाया कि राष्ट्रपति मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुक्तों की नियुक्ति प्रधानमंत्री, विपक्ष के नेता और भारत के मुख्य न्यायाधीश की समिति की सलाह पर करेंगे। कार्यपालिका ने इस फैसले को पलट दिया और प्रधानमंत्री, एक केंद्रीय कैबिनेट मंत्री और विपक्ष के नेता को लेकर बनी एक समिति की सिफारिश पर सीईसी की नियुक्ति के लिए एक अधिनियम लेकर लाया। वैसे मुख्य चिंता सीईसी और ईसी के वेतन को कैबिनेट सचिव के बराबर करने को लेकर है जिसका निर्धारण कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। यह चुनाव आयोग की वित्तीय स्वतंत्रता पर सवाल खड़ा करता है। पिछले कुछ वर्षों में सत्तारूढ़ कार्यपालिका ने अपने निहितस्वार्थ के लिए सीबीआई जैसी एजेंसी का दुरुपयोग करने में भी महारत हासिल कर ली है। सीबीआई को किसी विशिष्ट व्यक्ति को दोषी ठहराने या दोषमुक्त करने के इरादे से फाइलें तैयार करने के लिए कहा गया था। कांग्रेस ने इस एजेंसी का इस्तेमाल इशरत जहाँ मामले में अमित शाह को फँसाने में किया था। इसी तरह वर्तमान सत्तारूढ़ सरकार पर देश में विपक्षी नेताओं की साख को नष्ट करने के लिए सीबीआई और ईडी जैसी एजेंसियों का उपयोग करने का आरोप लगा है। भारत जैसे लोकतंत्र में ऐसे संस्थानों की स्वायत्तता और विश्वसनीयता बरकरार रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अलोकतांत्रिक आचरण

संसदीय लोकतंत्र की इमारत संसद के प्रति कार्यपालिका की जवाबदेही पर टिकी है। सत्तारूढ़ अधिकारियों द्वारा संसद की जांच से बचने की कोशिशें भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरनाक साबित हो सकती हैं।वर्ष 2004-05, 2013-14 और 2018-19 के बजट सत्र में 100% माँगें बिना चर्चा के पारित हो गई। वहीं संसद का मानसून सत्र जिसमें सांसदों को सरकार से सवाल पूछने का मौका मिलता है, बिना प्रश्नकाल के चला। विधेयकों को संसदीय समितियों को भेजे बिना पारित करना भी एक परंपरा बन गई है। ज्ञात हो कि 2004-09 के बीच यूपीए शासनकाल में 5 मिनट की चर्चा के भीतर 33 बिल पारित किए गए। वर्ष 2009-14 तक अपने दूसरे कार्यकाल में भी यूपीए ने यही परंपरा अपनाई जिसमें 5 मिनट से भी कम समय में 20 बिल पारित किए गए। वर्तमान 17वीं लोकसभा में केवल 16% बिल ही विस्तृत जांच के लिए समितियों को भेजे गए जो पिछली 3-4 लोकसभा की तुलना में कम है। मानसून सत्र 2023 में लोकसभा ने 22 विधेयक पारित किए। इनमें से 20 विधेयकों को पारित करने से पहले उन पर एक घंटे से भी कम समय के लिए चर्चा की गई थी। आईआईएम (संशोधन) बिल 2023 और अंतर-सेवा संगठन बिल 2023 सहित नौ बिल लोकसभा में 20 मिनट के भीतर पारित हो गए।[9] एक दूसरी प्रमुख घटना कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश की शक्तियों का दुरुपयोग है, ऐसा करना देश में लोकतांत्रिक प्रक्रिया को कमजोर करता है। इस लोकतांत्रिक गिरावट को नैन्सी बर्मियोने 'लोकतांत्रिक अध:पतन' की संज्ञा दी है। वह शीत युद्ध के बाद से लोकतंत्र के लिए सीधे खतरों, जैसे तख्तापलट या चुनाव धोखाधड़ी से दूर जाने पर ध्यान देती हैं। इसके अतिरिक्त अस्थिरता के अधिक क्रमिक रूपों की ओर उसका ध्यान है। ऐसा तब होता है जब लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई कार्यकारी, संस्थागत बदलाव लाने के लिए कानूनी साधनों का उपयोग करती है।[10] स्वतंत्रता मिलने के बाद लोकसभा अध्यक्ष जी.वी.मावलंकर ने 17 जुलाई, 1954 को नेहरू सरकार को पत्र लिखकर आयकर अधिनियम की धारा 34 में संशोधन करने हेतु उनकी सरकार

संसदीय लोकतंत्र की इमारत संसद के प्रति कार्यपालिका की जवाबदेही पर टिकी है। सत्तारूढ़ अधिकारियों द्वारा संसद की जांच से बचने की कोशिशें भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरनाक साबित हो सकती हैं। वर्ष 2004-05, 2013-14 और 2018-19 के बजट सत्र में 100% माँगें बिना चर्चा के पारित हो गई। वहीं संसद का मानसून सत्र जिसमें सांसदों को सरकार से सवाल पूछने का मौका मिलता है, बिना प्रश्नकाल के चला। विधेयकों को संसदीय समितियों को भेजे बिना पारित करना भी एक परंपरा बन गई है। ज्ञात हो कि 2004-09 के बीच यूपीए शासनकाल में 5 मिनट की चर्चा के भीतर 33 बिल पारित किए गए

द्वारा जारी अध्यादेश पर आपत्ति जताई थी और इसे अलोकतांत्रिक बताया था।[11] तब से सरकारें विधायी मार्ग से बचने के लिए इस रणनीति का सहारा ले रही हैं। पार्टी बहुमत के बावजूद, नेहरू सरकार ने 1957 तक 39 अध्यादेश जारी किए। इंदिरा गांधी ने 93 अध्यादेश जारी किए जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने अध्यादेश भी सामिल था। इसका सबसे बड़ा दुरुपयोग 1990 में वी.पी.सिंह का अध्यादेश जारी कर मंडल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने का निर्णय था। वैश्वीकरण के बाद, अधिकांश सरकारों ने हर साल औसतन 20-22 अध्यादेश जारी किए हैं। पहली वर्ष 2022 में कोई अध्यादेश जारी नहीं किया गया। अब वक्त आ गया है कि लोकतांत्रिक घाटे को रोकने के लिए जवाबदेही संस्थानों की रक्षा की जाए।

निष्कर्ष

25 नवंबर, 1949 को डॉ. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था: "...संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, अगर इसे अमल में लाने वाले लोग खराब निकले तो संविधान निश्चित रूप से अच्छा साबित नहीं होगा. वहीं, अगर इसे अमल में लाने वाले अच्छे निकले तो संविधान अच्छा साबित होगा।"[12] संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अंगों की ही व्यवस्था कर सकता है। राज्य केइन अंगों का कामकाज जिन कारकों पर निर्भर करता है, वे लोग और वे राजनैतिक दल हैं जिन्हें वे अपनी इच्छाओं और अपनी राजनीति को पूरा करने के लिए अपने साधन के रूप में स्थापित करेंगे। भारत का पिछले 75 वर्षों में संसदीय कार्यपालिका का अनुभव आश्वस्त करने वाला नहीं है। सत्ता में चाहे सरकार किसी की भी रही हो, सभी ने सत्ता के लिए लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर या उनका अवमूल्यन ही किया है। सत्ता की लालसा संसदीय लोकतंत्र में अक्सर अस्थिरता पैदा करती है, जिसके चलते राजनैतिक संकट पैदा होता है। इस पर लगाम लगाने के लिए मौजूदा व्यवस्था में परिवर्तनकारी बदलाव की आवश्यकता है जो न केवल सरकारों को स्थिरता प्रदान करे बल्कि सत्तारूढ़ कार्यपालिका की 'जिम्मेदारी का दैनिक मूल्यांकन' भी कर सके। इसके लिए सरकार के सभी स्तरों पर पर्याप्त नियंत्रण और संतुलन के साथ कार्यकारिणी का प्रत्यक्ष चुनाव जैसे उपाय, दल-बदल की समस्या को खत्म करने के लिए कार्यपालिका को विधायिका से अलग करना; चुनाव आयोग, सीबीआई, सीआईसी आदि के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए स्वतंत्र समितियों की नियुक्ति आदि की जा सकती है। आज भारत को स्मार्ट (सरल, नैतिक, जवाबदेह, उत्तरदायी, पारदर्शी) लोकतांत्रिक प्रणाली की आवश्यकता है जो सुशासन सुनिश्चित करे।

25 नवंबर, 1949 को डॉ. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था: "...संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, अगर इसे अमल में लाने वाले लोग खराब निकले तो संविधान निश्चित रूप से अच्छा साबित नहीं होगा. वहीं, अगर इसे अमल में लाने वाले अच्छे निकले तो संविधान अच्छा साबित होगा।" संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अंगों की ही व्यवस्था कर सकता है। राज्य केइन अंगों का कामकाज जिन कारकों पर निर्भर करता है, वे लोग और वे राजनैतिक दल हैं जिन्हें वे अपनी इच्छाओं और अपनी राजनीति को पूरा करने के लिए अपने साधन के रूप में स्थापित करेंगे। भारत का पिछले 75 वर्षों में संसदीय कार्यपालिका का अनुभव आश्वस्त करने वाला नहीं है

संदर्भ-

1. *कांस्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स*, 10 दिसंबर 1948
2. जसवंत मेहता, *व्हाट डिड अंबेडकर वांट?*, नवंबर 6, 1948 https://presidentialsystem.org/2018/11/06/ambedkar-would-have-preferred-the-presidential-system-jashwant-mehta/ (28फरवरी 2024को देखा गया)
3. *कांस्टिट्यूएंट असेंबली डिबेट्स*, 10 दिसंबर 1948
4. माधव गोडबोले, *इंडिया'ज पार्लियामेंट्री डेमोक्रेसी ऑन ट्रायल* (नई दिल्ली: रूपा, 2014)
5. 'व्हाट इज आर्टिकल 356, व्हिच प्राइम मिनिस्टर मोदी सेज इंदिरा गांधी मिसयूज्ड 50 टाइम्स?', *इंडियन एक्सप्रेस*, फरवरी 10, 2023 https://indianexpress.com/article/explained/explained-politics/pm-modi-indira-gandhi-misused-article-356-8434716/(Accessed on February 28, 2024)
6. रोहित, 'पोलिटिक्स ऑफ डिफेक्शन', पीआरएस लेजिस्लेटिव रिसर्च, मार्च 1, 2011 https://prsindia.org/theprsblog/politics-of-defection?page=242&per-page=1(Accessed February 29, 2024)
7. गोयल, रजनी (2001), प्राइम मिनिस्टर'स ऑफिस: डायनमिक्स ऑफ ऐन इंस्टीट्यूशन. द *इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस*, 62(4): पृ. 532-553
8. तदैव, पृ. 534
9. 'पार्लियामेंट फंक्शनिंग इन मॉनसून सेशन 2023'पीआरएस लेजिस्लेटिव रिसर्च, अगस्त 11, 2023 https://prsindia.org/files/parliament/session_track/2023/vital_stats/Session_Vital_Stats_MS23.pdf Accessed February 29,2024.
10. बर्मिओ, नैंसी (2016), ऑन डेमोक्रेटिक बैकस्लाइडिंग, जर्नल ऑफ डेमोक्रेसी, खंड 27(1):5-19
11. गोडबोले, माधव, यथा उद्धृत, पृ. 55
12. तदैव, पृ. 32

भानु कुमार

कार्यपालिका: प्रतिपक्ष और जनसहभागिता

भारत की संसदीय व्यवस्था में प्रतिपक्ष की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐतिहासिक विकासक्रम के साथ इस भूमिका का एक तटस्थ विश्लेषण

स्वतंत्रता पश्चात भारत ने जिस संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को अंगीकार किया है उसमें संसदीय विपक्ष का विशेष स्थान है। यह माना जाता है कि लोकतंत्र का सही आकलन विपक्ष की स्थिति से ज्ञात होता है। साथ ही सरकार भी किस सीमा तक लोकतांत्रिक है यह संसदीय विपक्ष की गतिविधियों से समझ आ जाता है। अर्थात् पक्ष के साथ प्रतिपक्ष संसदीय व्यवस्था की एक अनिवार्य शर्त है। जिससे भारतीय संसदीय व्यवस्था परे नहीं है।

भारत में कार्यपालिका, प्रतिपक्ष और इनकी गतिविधियों में जनप्रतिनिधियों के माध्यम से जनता की सक्रिय भागीदारी ने भारतीय संसदीय व्यवस्था को पिछले 75 वर्षों में एक जीवंत संस्था बनाया है, जबकि भारत के साथ स्वतंत्र हुए अधिकांश देश आज लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए संघर्षरत हैं। इसी कारण से आज हमारी संसदीय व्यवस्था दुनिया में शोध एवं विमर्श का विषय बनी हुई है। साथ ही, आदर्श भी।

भारत में समय के साथ पक्ष-प्रतिपक्ष और जनसहभागिता के मध्य विकसित हुए एकात्मता के भाव ने न तो कार्यपालिका को तानाशाह बनने दिया, न प्रतिपक्ष को निष्क्रिय और न ही जनता में उदासीनता का भाव उत्पन्न होने का कोई अवसर दिया है। हालाँकि जब आपातकाल के दौरान कार्यपालिका तानाशाह बनी तो प्रतिपक्ष और जनता की सामूहिक सहभागिता ने संसदीय मर्यादा को पुनर्स्थापित करने का भी काम किया।

इस लेख का उद्देश्य भारतीय संसदीय व्यवस्था में प्रतिपक्ष के इतिहास और उसके क्रमिक विकास को समझना और उसका विश्लेषण करना है। इस विश्लेषण की सीमा संसदीय पटल है। आँकड़े और तथ्य स्पष्ट करते हैं कि विपक्ष के तथ्य और तर्क दोनों में समय के साथ ह्रास देखने को मिला है। एकतरफ जहां सदन में बहस का समय सिकुड़ता चला गया तो दूसरी तरफ विपक्ष में प्रभावशाली नेताओं की भी कमी होती चली गई। भविष्य में संसदीय व्यवस्था में विपक्ष का स्वरूप कैसा होगा इसके लिए वर्तमान एवं इतिहास का मूल्यांकन भी लेख का उद्देश्य है।

संसदीय बहस का सिकुड़ता हुआ समय पक्ष और विपक्ष की मौन सहमति

पिछले दो लोकसभा में चुनकर आए विपक्षी दलों के सांसद जनता के हितों से अधिक अपने दलीय हितों में अधिक बंधे हुए हैं, जिस कारण से पक्ष और विपक्ष के तकरार ने सदन को बहस के बजाय स्थगन का स्थान बना दिया है। उदाहरण स्वरूप 17वीं लोकसभा की केवल 274 दिन बैठक हो पाई। जो पाँच साल पूरी करने वाली लोकसभा में सबसे कम है।[1]

पक्ष और विपक्ष दोनों की बदलते संबंध ने कैसे संसदीय पटल के अर्थ को बदला है उसका उदाहरण कोविड के दौरान भी देखने को मिला, जब सदन शुरू करने की बात हुई तो पक्ष और विपक्ष दोनों ने प्रश्न काल समाप्त करने पर अपनी सहमति दे दी। ऐसे में जिस प्रश्न काल को विपक्ष की आवाज का समय माना जाता है, उसे विपक्ष ने स्वयं हीं गला घोंट दिया। पीआरएस के आँकड़ों के अनुसार 2009-2020 के आँकड़े बताते हैं की मौखिक प्रश्न के लिए दिए गए समय का 90 प्रतिशत समय उपयोग नहीं हो पाया।[2] सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि पिछले तीन दशक में संसदीय व्यवस्था में बहस का सबसे अधिक विरोध विपक्षी दलों ने हीं किया है। जिस संसद के पटल का प्रयोग विपक्ष को जनता की समस्याओं के लिए करना चाहिए

था उसने अपने दलीय स्वार्थ में स्वाहा कर दिया।

आज प्रश्न यह है कि क्या विपक्ष की यह स्थिति हमेशा से ही भारतीय संसदीय व्यवस्था में ऐसी रही है? इतिहास के संदर्भों का राजनीतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आँकड़े कम होने के बाद भी शुरुआती दौर में संसद में विपक्ष की आवाज न सिर्फ मजबूत थी, बल्कि सत्ता उससे डरती भी थी। इसके दो कारण थे। पहला विपक्ष में प्रभावशाली और जनप्रिय नेताओं की उपस्थिति दूसरा कार्यपालिका पर विपक्ष का नैतिक दवाब।लेकिन समय के साथ दोनों कारण समाप्त हो चुका है। लेख में इसका भी परीक्षण है।

संसदीय व्यवस्था में विपक्ष का अर्थ

भारत की संसदीय व्यवस्था ब्रिटेन से आयातित है। इस व्यवस्था में विपक्ष एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। विपक्ष की भूमिका पर ब्रिटिश राजनीतिक विद्वान आइवर जेनिंग्स का मत है, 'सरकार शासन करती है और विपक्ष उसकी आलोचना करती है' । उनके अनुसार संसदीय व्यवस्था में विपक्ष के विरोध का अर्थ केवल विरोध से नहीं बल्कि भविष्य की सरकार के रूप में भी देखी जाती है। इस तथ्य से सुभाष कश्यप जैसे भारतीय संविधान विशेषज्ञ भी सहमति रखते हैं।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ टियरने के अनुसार, विपक्ष का कर्तव्य कोई भी प्रस्ताव प्रस्तुत करना नहीं है सभी चीजों का विरोध करना है और सरकार को पलट देना है। ब्रिटिश प्रधानमंत्री रहे बेम्जामिन डिसरायली मानते थे,– कोई भी सरकार मजबूत विपक्ष के बिना लंबे समय तक सुरक्षित नहीं रह सकती।" क्योंकि लोकतंत्र में बहुमत पर सरकार का गठन होता है जो सरकार को मनमानी करने के लिए भी प्रेरित कर सकती है, ऐसे में विपक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका से वह नियंत्रित हो पाती है। भारतीय संसदीय व्यवस्था में विपक्ष के दवाब की राजनीति के इतिहास को देख कर एक सीमा तक यह तर्क उचित ज्ञात होता है।

भारत में विपक्ष की अवधारणा को संविधान निर्माताओं ने भी परिभाषित किया। लोकसभा के पहले अध्यक्ष गणेश वासुदेव मावलंकर का मानना था की, "प्रजातंत्र तब तक सही प्रकार से उन्नत्ति नहीं कर सकता है जब तक कि राजनीतिक दलों की संख्या कम से कम न हो। जहां तक हो सके प्रमुख दल दो से अधिक न हो जो एक दूसरे को सत्तापक्ष तथा प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित कर सकें।" वहीं संविधान सभा के सदस्य रहे हरि विष्णु कामथ विपक्ष की तीन जिम्मेदारी बताते हैं, पहला सरकार को सचेत रखे दूसरा विरोध करना और तीसरा संभव हो तो अपदस्थ करें। पूर्व राष्ट्रपति आर वेंकेटरमन अनुशासन और शिष्टाचार को संसदीय लोकतंत्र के दो मुख्य आधार स्तंभ मानते थे। जहां सत्ता पक्ष को स्वयं अपनी बात रखने की स्वतंत्रता और विपक्ष को भी यह आजादी हीं संसदीय प्रक्रिया का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है"। अर्थात् स्वस्थ संसदीय व्यवस्था को विपक्ष की सकरमात्मक संवादों से हीं जीवित और विकसित किया जा सकता है। और संसदीय व्यवस्था में विपक्ष की भूमिका का कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं है, बल्कि समय और वस्तुस्थिति के साथ परिवर्तित होते रहती है।

भारतीय संसदीय व्यवस्था को समझने के लिए कार्यपालिका और विपक्ष के सम्बंध को समझना जरूरी है। साथ हीं दोनों के क्रमशः विकास को भी समझने की आवश्यकता है। संविधान निर्माताओं ने किन आधारों पर इस संसदीय व्यवस्था की नींव रखी इससे भी हमें परिचित होना जरूरी है। संविधान सभा में भारत में किस प्रकार की विधि व्यवस्था हो इस पर व्यापक बहस हुई। 4 नवंबर 1948 को बाबा साहेब अंबेडकर ने सदन के सामने पार्लीयमेंट्री शासन व्यवस्था अपनाने का कारण स्पष्ट किया

कार्यपालिका और संसदीय विपक्ष

भारतीय संसदीय व्यवस्था को समझने के लिए कार्यपालिका और विपक्ष के सम्बंध को समझना जरूरी है। साथ हीं दोनों के क्रमशः विकास को भी समझने की आवश्यकता है।संविधान निर्माताओं ने किन आधारों पर इस संसदीय व्यवस्था की नींव रखी इससे भी हमें परिचित होना जरूरी है।

संविधान सभा में भारत में किस प्रकार की विधि व्यवस्था हो इस पर व्यापक बहस हुई। 4 नवंबर 1948 को बाबा साहेब अंबेडकर ने सदन के सामने पार्लीयमेंट्री शासन व्यवस्था अपनाने का कारण स्पष्ट किया। उन्होंने सभा में कहा, "स्विजेरलैंड और अमेरिका के प्रणाली में स्थैर्य अधिक है पर दायित्व कम है। इसके प्रतिकूल ब्रिटिश प्रणाली में आप दायित्व अधिक पाएँगे, पर स्थिरता कम।"[3] आगे कारण को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "भारत जैसे देश में अधिशासी वर्ग के दायित्व की दैनिक छानबीन बहुत हीं आवश्यक है। प्रस्तुत विधान में स्थैर्य से दायित्व को अधिक आवश्यक समझा गया है और इसीलिए इसमें पर्लियामेंटरी पद्धति की सिफारिश की गयी है।"[4] संविधान सभा में स्वीकृति के बाद संसदीय व्यवस्था अपनाई गई। जिसमें कार्यपालिका को व्यापक अधिकारों से सुसज्जित किया गया।

संविधान के अनुछेद 74 (1) के अंतर्गत राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए प्रधानमंत्री का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 75 (1) के तहत राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति करने का अधिकार सहित प्रधानमंत्री के सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करने का भी अधिकार प्रदान किया गया। अनुच्छेद 74 से 78 तक के प्रावधानों के आधार पर कार्यपालिका को स्वयं विवेक के आधार पर कार्य करने की स्वतंत्रता मिली जिस पर सीमित जवाबदेही संसद के प्रति अभी तक देखने को मिली है।

इसी कारण से सरकार को जनहित के प्रति जवाबदेह बनाना संसदीय विपक्ष का प्रमुख कार्य बन जाता है। संसद में विपक्ष के मुखर स्वर रहे मधु दंडवते का मानना था कि संवैधानिक रूप से विपक्ष की भूमिका का कोई स्पष्ट प्रारूप नहीं होने से विपक्षी दल और नेता प्रतिपक्ष की भूमिका कार्यपालिका

को संविधान सम्मत बनाने में सबसे महत्त्वपूर्ण हो जाती है।[5] हालाँकि समय के साथ विपक्ष की अस्पष्ट भूमिका ऐसा करने में सफल नहीं पाई। आज संसद में नेता प्रतिपक्ष को कई संवैधानिक पदों के नियुक्ति में स्थान देकर कार्यपालिका ने एक तरफ जहां संसदीय व्यवस्था को और अधिक व्यापकता प्रदान करने का प्रयास की है तो दूसरी तरफ विपक्ष अधिकांश समय इन नियुक्तियों में विरोध करते हुए अपने अस्तित्व को औचित्यहिन बताती रही है।

विपक्षी दलों को मिलाकर संसद के भीतर पहला संघ बनाने का श्रेय श्यामा प्रसाद मुखर्जी को जाता है। जिन्होंने गणतंत्र परिषद, अकाली दल,हिंदू महासभा और कुछ निर्दलीय सांसदों को मिलाकर नैशनल डेमक्रैटिक पार्टी का गठन संसद के भीतर किया। अपने संसदीय व्यवस्था के अल्पकाल में विपक्षी दलों के सबसे प्रखर आवाज बने। उनके इस प्रयास के कारण सरकार भी उन्हें अनौपचारिक रूप से नेता प्रतिपक्ष मानती थी। इसके अलावे आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में समाजवादी प्रगतिशील गुट बनाया गया। व्यापक प्रयास के बाद भी इसमें सांसदों की संख्या 41 हीं हो पाई, जिससे इसे विपक्षी दल की मान्यता नहीं मिल पाई

विपक्ष का आरंभिक काल खंड

स्वतंत्रता पूर्व ब्रिटिश हुकूमत के समय शुरू हुआ अंतरिम संसद में कोई संगठित विपक्ष नहीं था। अंतरिम संसद के सदस्य को दो आधार पर बाँटा गया। संग्लगन और असंग्लगन। संग्लगन सदस्य कांग्रेस से सम्बंध रखते थे जबकि अन्य सदस्य असलगन थे। 1950 में असंग्लगन सदस्य मात्र 22 थे, तो 1951 में यह संख्या बढ़कर 51 हो गई।[6]

भारत में पहला आम चुनाव 1951-52 में हुआ था। कांग्रेस 364 सीटों के साथ सत्ता में आई। विपक्षी दलों में सीपीआई सबसे बड़ी पार्टी बनी, जिसे 16 सीटें मिलीं। इसके बाद 1957,1962 और 1967 के लोकसभा चुनाव में किसी भी विपक्षी दलों को मावलंकर रूल के अनुसार दस प्रतिशत सीटें नहीं मिली। जिससे की उसे मान्यता प्राप्त विपक्षी दल होने का स्थान मिल सकें। किंतु इस काल खंड में भारतीय संसदीय व्यवस्था में विपक्ष का प्रतिनिधित्व प्रभावशाली नेताओं के एक बड़े समूह ने किया। जिसमें आचार्य कृपलानी, मीनू मसानी, राम मनोहर लोहिया, मधु लिमिये, प्रकाशवीर शास्त्री और अटल बिहारी वाजपेयी सहित कई अन्य थे। जिन्होंने अपने प्रभावशाली भाषणों से संसद के भीतर वैचारिक स्तर पर सरकार के खिलाफ एक मजबूत आवाज बुलंद की। और विपक्ष की संसद में कार्यों की सीमा और परिभाषा तय की। हालाँकि सीमा और परिभाषा उनके सदन से जाने के साथ समाप्त भी हो गई।

लोकसभा में उपाध्यक्ष का पद संविधान के अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त है। जिसमें 2002 में संसोधन कर यह निश्चित कर दिया गया है की स्पीकर के चुनाव के एक महीने के भीतर उपाध्यक्ष का चुनाव हो जाना चाहिए। हालाँकि उपाध्यक्ष पद के लिए कोई न्यूनतम अहर्ता और दलीय बाधा नहीं है। लेकिन विपक्षी दल के नेता को इस पर बिठाने की परंपरा पहली लोकसभा से रही है। नेहरू सरकार द्वारा 1956 में आकली दल के सरदार हुकुम सिंह को[7] उपाध्यक्ष बनाया गया, जबकि अकाली दल के पास केवल चार सीटें थी। वहीं 1984 और 2014 में भी क्रमशः राजीव गांधी और नरेन्द्र मोदी की सरकार में मान्यता प्राप्त विपक्षी दल नहीं होने के बाद भी तमिलनाडु से चुनकर आए विपक्षी दल के सांसद मुनिसामी थंबीदुरई[8] को उपाध्यक्ष बनाया गया। लेकिन 17वीं लोकसभा में यह परंपरा टूटी और सभा का समापन बिना उपाध्यक्ष के हुआ।[9]

विपक्षी दलों का संसदीय गठबंधन

विपक्षी दलों को मिलाकर संसद के भीतर पहला संघ बनाने का श्रेय श्यामा प्रसाद मुखर्जी को जाता है। जिन्होंने गणतंत्र परिषद, अकाली दल,हिंदू महासभा और कुछ निर्दलीय सांसदों को मिलाकर ***नैशनल डेमक्रैटिक पार्टी*** का गठन संसद के भीतर किया।[10] अपने संसदीय व्यवस्था के अल्पकाल में विपक्षी दलों के सबसे प्रखर आवाज बने। उनके इस प्रयास के कारण सरकार भी उन्हें अनौपचारिक रूप से नेता प्रतिपक्ष मानती थी। इसके अलावे आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में समाजवादी प्रगतिशील गुट बनाया गया। व्यापक प्रयास के बाद भी इसमें सांसदों की संख्या 41 हीं हो पाई, जिससे इसे विपक्षी दल की मान्यता नहीं मिल पाई।

विपक्ष का सत्ता पर नैतिक दवाब

दूसरे लोकसभा में भी विपक्षी सांसदों की संख्या सवा सौ के करीब थी। सत्ताधारी कांग्रेस के पास 371 सीटें थे। किंतु काग्रेस के अपने सदस्यों द्वारा जब लोकसभा में 'मूँदड़ा कांड' का मामला उठाया गया तो विपक्षी दलों ने इसें हाथों हाथ ले लिया। परिणाम स्वरूप वित्त मंत्री टीटी कृष्णमाचारी को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। यह पहला कांड था जब विपक्ष के आगे सत्ता झुकी थी, कारण था संसदीय नैतिक दवाब का। अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा जॉन मथाई के विरुद्ध विशेषाधिकार हनन का मामला भी सदन में खूब उठा। इन घटनाओं ने संसद में विपक्ष की दमदार उपस्थिति को और जीवंत बनाया। लेकिन नैतिक दवाब का काल खंड 1969 से ख़त्म होना शुरू हो गया। इस वर्ष कांग्रेस पार्टी में टूट हुई और पहली बार विपक्षी दलों के साथ कांग्रेस से टूट कर आए सत्ताधारी कांग्रेस के नेता अब प्रतिपक्ष की कुर्सी पर बैठे। 65 सदस्यों के साथ कांग्रेस (ओ) मान्यता प्राप्त दल बनी, और इसके नेता राम सुभग सिंह लोकसभा में नेता प्रतिपक्ष बने। पक्ष से टूटे हुए लोग अब विपक्ष में थे और वहीं औपचारिक रूप से संसदीय विपक्ष को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे।

विपक्ष के प्रभावशाली स्वर

विपक्ष के इस संक्षिप्त इतिहास को कुछ प्रमुख किरदारों से और अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। शुरुआती काल खंड में आचार्य कृपलानी कांग्रेस संसदीय विपक्ष के सबसे मजबूत और प्रखर स्वर थे। स्वतंत्र

भारत में पहली बार नेहरू सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाने का श्रेय भी कृपलानी को हीं है। तब वह अमरोहा से सांसद थे। 19 अगस्त 1963 को लोकसभा में सरकार के विरुद्ध उनके द्वारा अविश्वास प्रस्ताव 44 सांसदों के समर्थन से लाया गया था। चालीस घंटों तक इस पर चार दिन बहस चली। जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष के चालीस सांसदों ने भाग लिया।[11] लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण था विपक्ष के तीन नेता कृपलानी, मसानी और लोहिया का ओजस्वी भाषा जिसने सरकार को हिला दिया।

यह अविश्वास प्रस्ताव इसीलिए और महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इस प्रस्ताव को लाने वाले कृपलानी, लोहिया और मीनू मसानी 1963 में उपचुनाव जीत कर लोकसभा आए थे। हालाँकि चारों सीटों पर हुए उपचुनाव में जौनपुर से विपक्ष के उम्मीदवार दीन दयाल उपाध्याय को हार का सामना करना पड़ा था। लेकिन चुने गए तीन नेताओं ने भारत में विपक्ष के लिए भविष्य में संभावनाओं के द्वार खोल दिए। आगे इन नेताओं ने विपक्ष को संसदीय व्यवस्था में और मजबूत आधार दिया।

फर्रुख़ाबाद से उपचुनाव के जीत कर आए राम मनोहर लोहिया ने संसद में विपक्ष की धार को सबसे अधिक तीव्र किया। देश में गरीबी की परिभाषा पर 'तीन आने बनाम पंद्रह आने'[12] के बहस ने संसद के भीतर सरकार को न सिर्फ असहज किया बल्कि सोचने पर विवश कर दिया। लोहिया ने विपक्ष के भूमिका को जनता के सरोकार से सीधे जोड़ दिया। 13 मार्च 1964 को गरीबी के मुद्दे पर हीं दिल्ली में 'जनवाणी दिवस' का आयोजन कर सरकार अपनी सरोकार से अवगत कराने का प्रयास किया। लोहिया ने अपने अल्पकालीन समय में संसदीय व्यवस्था में विपक्ष की भूमिका को महत्त्वपूर्ण बना दिया। 9 दिसम्बर 1963 को पंचवर्षीय योजना के मध्यावधि मूल्यांकन पर बोलते हुए उन्होंने कहा, "इस योजना को देशहीन, दिशाहीन, मूर्ख विद्वानों ने बनाया है, और इस पर अमल कर रहें हैं भ्रष्ट योगी।"[13] उनके इस शब्द के पीछे का कारण था कि भारत के लिए नीति बनाते समय सरकार और उनका तंत्र अमेरिका और रुस की ओर देखता है। जबकि भारत की स्थिति इनसे भिन्न है। ऐसे में अंग्रेजी नकल से नीति निर्माण करके भारत का भला कभी सम्भव नहीं है। विपक्ष का काम सिर्फ सरकारी नीतियों का विरोध ही नहीं बल्कि राष्ट्र और देश से जुड़े गम्भीर मुद्दों से भी है। ख़ासकर शिक्षा और संस्कृति से। 26 मार्च 1966 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा लिखे गए इतिहास को उन्होंने लोकसभा में उठाते हुए कहा, "अगर हमने अपने भूत (इतिहास) को ठीक से जाना और पहचाना नहीं और अपने बच्चों को ठीक से सिखाया नहीं, तो यह देश कभी भी अच्छा और सुखी नहीं हो सकता है।"[14] कुल मिलाकर लोहिया ने संसद में गरीबी, इतिहास, राष्ट्रीय न्यूनतम आय, नजरबंदी जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर न सिर्फ सरकार को घेरा बल्कि भारतीय संसदीय व्यवस्था में विपक्ष को कैसे कार्य करना चाहिए भविष्य के लिए इसका रोडमैप भी दे दिया। किंतु वर्तमान के विपक्ष को शायद हीं लोहिया याद हो।

विपक्ष के प्रखर आवाज के रूप में मधु लिमिये का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। 1964 से 1979 तक वह चार बार लोकसभा के सदस्य चुने गए। इस काल खंड में उन्होंने सरकारों को संवैधानिक मुद्दों, आर्थिक प्रगति सहित अंतरराष्ट्रीय विषयों पर संसद की भीतर कई अवसरों पर घेरा। पूर्व लोकसभा सदस्य मोहन सिंह के अनुसार मधु लिमिये अपने तर्कों से संसद में सरकार के बहुमत को कई बार निष्क्रिय करने में सक्षम हुए। उस काल खंड में कई मंत्री उनके झोले को देखकर भयक्रांत रहते थे की आज किसके खिलाफ पिटारा खुलने वाला है।[15] मधु लिमिये के नेतृत्व में हीं संसद के भीतर विपक्षी दलों का एक फोरम बना।[16] और उनके सफल नेतृत्व में जनसंघ सहित कई विरोधी दल सरकार के विरोध में लड़े। विपक्ष के आवाज में देशहित का स्वर होना चाहिए। मधु लिमिये इसके सबसे अच्छे उदाहरण थे। चीन से युद्ध के बाद जब लोकसभा में उन्होंने बोलना शुरू किया तो एक साथ कांग्रेस और कम्युनिस्ट दोनों को कटघरे में खड़ा कर दिया। 11 मार्च 1965 को लोकसभा में बोलते हुए उन्होंने कम्युनिस्ट साथियों को सम्बोधित करते हुए बोला, "मॉस्को, लंदन या वाशिंगटन की और देखकर भारत की तरक्की सम्भव नहीं हो सकती है।[17] उनके इन शब्दों आशय स्पष्ट था की विपक्षी दलों को भारत की समस्या के निवारण के लिए देशज उपाय पर हीं ध्यान केंद्रित करना पड़ेगा साथ हीं इसके लिए सरकारों पर दवाब इसी सोच के साथ डालना पड़ेगा। हालाँकि मधु लिमिये का यह भी मानना था की संसदीय व्यवस्था में मत प्रतिशत के हिसाब से दलों को सीटें मिलनी चाहिए। 13 दिसम्बर 1973 को अपने भाषण में उन्होंने कहा की सरकार अगर 43 प्रतिशत के धनी हैं तो हम 57 प्रतिशत के मालिक। इसका तात्पर्य अगर समझा जाए तो भारत में कभी भी सरकार में रहे दलों को आधे से अधिक मत नहीं मिले हैं, ऐसे में विपक्षी दलों का जनता का बहुमत मत के हिसाब से मिलता है। जो विपक्षी दलों के कार्यों को और न सिर्फ जवाबदेह बनाती है बल्कि सरकार पर इसका निरंतर दवाब बनाने के लिए तर्क का आधार भी देती रहती है। जैसा की मधु लिमिये के

फर्रुख़ाबाद से उपचुनाव के जीत कर आए राम मनोहर लोहिया ने संसद में विपक्ष की धार को सबसे अधिक तीव्र किया। देश में गरीबी की परिभाषा पर 'तीन आने बनाम पंद्रह आने' के बहस ने संसद के भीतर सरकार को न सिर्फ असहज किया बल्कि सोचने पर विवश कर दिया। लोहिया ने विपक्ष के भूमिका को जनता के सरोकार से सीधे जोड़ दिया। 13 मार्च 1964 को गरीबी के मुद्दे पर हीं दिल्ली में 'जनवाणी दिवस' का आयोजन कर सरकार अपनी सरोकार से अवगत कराने का प्रयास किया। लोहिया ने अपने अल्पकालीन समय में संसदीय व्यवस्था में विपक्ष की भूमिका को महत्त्वपूर्ण बना दिया

वक्तव्य से स्पष्ट होता है।

1971 में इंदिरा गांधी के बहुमत सरकार आने के बाद उम्मीद यह थी की विपक्ष कमजोर होगा लेकिन पोंडिचेरी लाइसेन्स केस ने इसे एक नया जीवन दे दिया। संसद के भीतर इस दौरान जो बहस हुआ उसे 'प्रतिपक्ष केस'[18] के रूप में जाना जाता है। इस दौरान संसद न सिर्फ विपक्ष के तर्कों के आगे नतमस्तक था बल्कि सरकार भी असहाय थी। कारण था जोर्ज फर्नांडिस द्वारा प्रतिपक्ष पत्रिका में कुछ संसद सदस्यों पर आपत्तिजनक टिप्पणी।

विपक्ष के छः नेताओं ने इलाहबाद उच्च न्यायालय के फैसले के पूर्व सरकार को घुटने पर लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अटल जी का भाषण की शैली, ज्योतिर्मय बसु की कटु स्पष्टवादिता, मधु दंडवते की विषय की सूक्ष्म जानकरी, मधु लिमिये का संवैधानिक विषयों का ज्ञान, पीलू मोदी और श्यामनंदन मिश्र का संसदीय अनुभव का कौशल ने स्वतंत्र भारत में विपक्ष को सबसे अधिक ताकतवर बना दिया।[19]

संसद के इस काल खंड में विपक्ष एक मजबूत आवाज थी। एक तो ऊपर दिए हुए भाषणों से ज्ञात होता है, दूसरा संसद के पटल पर बैठकों के समय का भी सही सदुपयोग हुआ। 1952 से 1970 के बीच लोकसभा का सालाना बैठकों का औसत 121 दिन रहा जो 2019-2024 में घटकर 55 दिन हो गया। इस काल खंड के विपक्ष का अध्ययन यह स्पष्ट करता है की सदन के पटल पर विपक्ष अपने वैचारिक तर्क से कार्यपालिका के विरुद्ध एक सशक्त आवाज बना हुआ था।

विपक्ष का संस्थागत रूप : 1989 के बाद

संसदीय विपक्ष का स्वरूप 1989 के बाद से व्यापक रूप में परिवर्तित हुआ। अब विपक्षी दल अपने को भविष्य की सरकार के रूप में देखना शुरू की। जिस कारण से विपक्षी दल और नेता अब न सिर्फ सरकार की नाकामी गिनाते थे बल्कि भविष्य में अपनी कार्य योजना भी संसदीय पटल पर रख रहे थे। विपक्षी नेताओं का सारांश होता था कि, 'हम अगर सरकार में आएँगे तो ये...'। लेकिन दूसरी तरफ संसद का निरंतर बहिष्कार ने विपक्षी दलों की संसदीय व्यवस्था के प्रति उदासीनता को भी उजागर किया। 10वीं लोकसभा में जहां 10 प्रतिशत समय बर्बाद हुआ। वहीं 11वीं से लेकर 14वीं लोकसभा तक समय की बर्बादी कम हुई। लेकिन 15वीं लोकसभा में स्थिति फिर दयनीय हो गयी। इस लोकसभा में बहस का 40 प्रतिशत समय टकराव का भेंट चढ़ गया।

1989 के चुनाव में वी पी सिंह के द्वारा स्थापित नैशनल फ्रंट ने विपक्षी दलों के साथ चुनाव लड़ा और भाजपा के सहयोग से प्रधानमंत्री बने। कांग्रेस चुनाव हार कर विपक्ष में बैठी। पहली बार देश के प्रधानमंत्री रह चुके राजीव गांधी नेता प्रतिपक्ष बने। 18 दिसम्बर 1989 से 24 दिसम्बर 1990 तक वह इस पद पर रहें। इसके बाद कांग्रेस के समर्थन से चंद्रशेखर प्रधानमंत्री बने। शुरुआत में राजीव गांधी ने नेता प्रतिपक्ष के पद से इस्तीफा देने से इनकार कर दिया। जिससे एक नया संकट खड़ा हुआ की मुख्य विपक्षी दल सरकार को समर्थन भी दे रही है और संसदीय विपक्ष की भूमिका भी निभाना चाह रही है। हालाँकि विवाद के बाद राजीव गांधी ने नेता प्रतिपक्ष के पद से इस्तीफा दे दिया और चंद्रशेखर की सरकार संसद पहुँचने से पूर्व हीं गिर गई। चंद्रशेखर सरकार के इस अल्पकालीन अवधि में 89 सीट जीत कर आई भाजपा पहली बार मान्यता प्राप्त विपक्षी दल बनी और इसके नेता लाल कृष्ण आडवाणी नेता प्रतिपक्ष बने। इस पद पर वह 24 दिसम्बर 1990 से 13 मार्च 1991 तक रहे।

1991 के चुनाव में कांग्रेस की पुनः वापसी हुई, और पी वी नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री बने। चुनाव में भारतीय जनता पार्टी दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनी। जिसे 112 सीटें मिली। इस चुनाव ने भारतीय संसदीय व्यवस्था में पक्ष और विपक्ष के दो धुरी स्थापित कर दिए, एक तरफ कांग्रेस दूसरी तरफ भाजपा,जैसा की आज तक चला आ रहा। लाल कृष्ण आडवाणी नेता प्रतिपक्ष बने। 21 जून 1999 से लेकर 25 जुलाई 1993 तक वह इस पद पर रहें। इसके बाद अटल बिहारी वाजपेयी नेता प्रतिपक्ष बने, जो बाद में वे भारत के प्रधानमंत्री भी बने। वह इस पद पर दो बार रहे, पहली बार आडवाणी जी के हटने के बाद 26 जुलाई 1993 से लेकर 10 मई 1996 तक और दूसरी बार 1 जून 1997 से लेकर 4 दिसम्बर 1997 तक। वाजपेयी जी पहली बार जब नेता प्रतिपक्ष बने तो लोकसभा में नेता पक्ष प्रधानमंत्री पी वी नरसिम्हा राव थे वहीं जब 17 दिन तक जब वाजपेयी प्रधानमंत्री रहे तब नेता प्रतिपक्ष पी वी नरसिम्हा राव रहे। अटल जी को नेता प्रतिपक्ष रहती हुए नरसिम्हा राव की सरकार ने भारत सरकार का मत रखने संयुक्त राष्ट्र जाने वाले दल का प्रमुख बनाया था। जो भारतीय संसदीय व्यवस्था के परिपक्वता का परिचायक माना जाता है।[20]

1998 में वाजपेयी जी दूसरी बार प्रधानमंत्री बने तो कांग्रेस के वरिष्ठ नेता शरद पवार नेता प्रतिपक्ष बने। वह इस पद पर 19 मार्च 19989 से 26 अप्रैल 1999 तक रहे। तीसरी बार जब वाजपेयी प्रधानमंत्री बने तो शरद पवार कांग्रेस से अलग हो चुके थे। अब कांग्रेस की कमान सदन और बाहर दोनों जगह सोनिया गांधी के पास थी। नेता प्रतिपक्ष के रूप में उनका कार्यकाल 13

संसदीय विपक्ष का स्वरूप 1989 के बाद से व्यापक रूप में परिवर्तित हुआ। अब विपक्षी दल अपने को भविष्य की सरकार के रूप में देखना शुरू की। जिस कारण से विपक्षी दल और नेता अब न सिर्फ सरकार की नाकामी गिनाते थे बल्कि भविष्य में अपनी कार्य योजना भी संसदीय पटल पर रख रहे थे। विपक्षी नेताओं का सारांश होता था कि, 'हम अगर सरकार में आएँगे तो ये...'। लेकिन दूसरी तरफ संसद का निरंतर बहिष्कार ने विपक्षी दलों की संसदीय व्यवस्था के प्रति उदासीनता को भी उजागर किया। 10 वीं लोकसभा में जहां 10 प्रतिशत समय बर्बाद हुआ। वहीं 11वीं से लेकर 14वीं लोकसभा तक समय की बर्बादी कम हुई

अक्टूबर 1999 से 6 फरवरी 2004 तक का रहा। वह पहली महिला नेता प्रतिपक्ष बनीं।

2004 के लोकसभा चुनाव में एनडीए गठबंधन चुनाव हार गई और कांग्रेस ने गठबंधन के बदौलत सरकार बनाई। नेता प्रतिपक्ष को भावी प्रधानमंत्री के रूप में देखा जाता है, इसी आधार पर सोनिया गांधी भारत की सम्भावित प्रधानमंत्री मानी जा रही थीं। किंतु राजनीतिक घटनाओं ने ऐसा होने नहीं दिया।

पक्ष और विपक्ष को इस काल खंड में अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह के संदर्भ में समझना आवश्यक है। दोनों प्रधानमंत्री भी रहे और नेता प्रतिपक्ष भी। अटल बिहारी वाजपेयी जब प्रधानमंत्री थे तो उनका मत था की विपक्षी दल कांग्रेस द्वारा कारगिल युद्ध के समय किया गया व्यवहार गैर जिम्मेदाराना था। वहीं जब अटल जी विपक्ष की कुर्सी पर बैठे तो 26 अगस्त 2005 को सरकार पर आरोप लगाते हुए कहा, "सरकार हमारा सहयोग नहीं चाहती है और सरकार अगर विपक्ष को अगर अपना कार्य करने नहीं देगी तो उन्हें व्यापक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, जिससे लोकतंत्र ठीक से कार्य नहीं कर पाएगी।" वहीं मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री रहते हुए मानते थे की सरकार और विपक्ष संसदीय व्यवस्था में पवित्र दायित्व से बंधे हुए हैं, और ऐसे में विपक्ष द्वारा संसद की प्रक्रिया को अवरुद्ध करना जनता की आवाज को दबाना है। वहीं नेता प्रतिपक्ष रहते हुए उनका वक्तव्य था कि "सरकार संसद में बिना चर्चा के आगे बढ़ती जा रही, ऐसे में कांग्रेस पार्टी सदन में इसका व्यापक विरोध करेगी।" परिणाम स्वरूप सदन इस दौर में विरोध का शिकार हो गई। दोनों नेताओं के वक्तव्यों को सार यही है की भारतीय संसदीय व्यवस्था में पक्ष और विपक्ष इस काल खंड में एक निश्चित फ्रेम में अपनी भूमिका तय कर चुके थे। जिसके परिणाम स्वरूप संसद बहस से अधिक अस्थगन का स्थान बन कर रह गया है। इसीलिए आवश्यकता इस बात की है, कि संसद के पटल पर विपक्ष के सदस्यों को अपनी भूमिका निभाने के लिए दलीय अनुशासन से बाहर निकल कर कार्य करना होगा। अर्थात् जनहित के मुद्दों को पटल पर लाना बिना भय के।

पक्ष और विपक्ष को इस काल खंड में अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह के संदर्भ में समझना आवश्यक है। दोनों प्रधानमंत्री भी रहे और नेता प्रतिपक्ष भी। अटल बिहारी वाजपेयी जब प्रधानमंत्री थे तो उनका मत था की विपक्षी दल कांग्रेस द्वारा कारगिल युद्ध के समय किया गया व्यवहार गैर जिम्मेदाराना था। वहीं जब अटल जी विपक्ष की कुर्सी पर बैठे तो 26 अगस्त 2005 को सरकार पर आरोप लगाते हुए कहा, "सरकार हमारा सहयोग नहीं चाहती है और सरकार अगर विपक्ष को अगर अपना कार्य करने नहीं देगी तो उन्हें व्यापक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, जिससे लोकतंत्र ठीक से कार्य नहीं कर पाएगी

मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री रहते दो नेता प्रतिपक्ष हुए। पहले लाल कृष्ण आडवाणी और सुषमा स्वराज। 22 मई 2004 से 18 मई 2009 तक आडवाणी इस पद पर रहें। न्यूक्लियर बिल के मुद्दे पर 2008 में यूपीए सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया। इस प्रस्ताव पर वोटिंग के दौरान विपक्ष के 21 सांसदों ने क्रॉस वोटिंग किया। विपक्ष ने 'कैश फोर वोट' का आरोप लगाया।[21] हालाँकि इस घटना ने विपक्ष की एकता को तोड़ने का काम तो किया हीं साथ हीं संसदीय व्यवस्था में धनबल के दौर की शुरुआत भी कर दी।

2009 में पुनः कांग्रेस के नेतृत्व में यूपीए की जीत हुई और आडवाणी नेता प्रतिपक्ष हीं रह गए। इसके साथ हीं चौथी बार वह लोकसभा में नेता प्रतिपक्ष बने। नेता प्रतिपक्ष की अपनी भूमिका को भविष्य की सरकार के रूप में वह देखते थे। 15 फरवरी 2008 को फिक्की में एक भाषण दिया इस भाषण में उन्होंने सरकार पर आरोप से अधिक भविष्य के योजनाओं पर बोला। भाषण का राजनीतिक अर्थ समझने की कोशिश की जाए तो ज्ञात होता है की विपक्ष दल का नेता इस समय तक अपने आप को 'शैडो प्राइम मिनिस्टर' मानना शुरू कर चुके थे। 22 मई 2009 से 21 दिसम्बर 2009 तक वह इस पद पर रहें। भाजपा की चुनावी हार के बाद भी लालकृष्ण आडवाणी के कद के कारण भाजपा संसदीय दल ने उन्हें सदन में अपना नेता बनाया। लेकिन पार्टी के अंदर बढ़ते दवाब के कारण 18 दिसम्बर 2009 को लालकृष्ण आडवाणी को नेता प्रतिपक्ष के पद से त्याग पत्र देना पड़ा। सुषमा स्वराज नेता प्रतिपक्ष बनीं। 2014 तक वह इस पद पर रहीं।

इस लोकसभा में पक्ष विपक्ष की तकरार से संसद का 40 प्रतिशत समय अस्थगन का शिकार हुआ। जो अभी तक के सबसे अधिक था। इसका कारण था, यूपीए सरकार के ऊपर घोटालों का आरोप। नेता प्रतिपक्ष सुषमा स्वराज संसदीय विपक्ष की आवाज थी, जिस कारण से उन्हें और उनकी पार्टी को देशव्यापी समर्थन मिला। कारण था, सुषमा स्वराज विपक्ष की भूमिका के सैद्धांतिक पक्ष से अवगत होना। उनके अनुसार "केवल विरोध करने के लिए सरकार का विरोध नहीं किया जाना चाहिए"। बल्कि विपक्ष के रूप में उनका मानना था की भाजपा और वह स्वयं सरकार के उन नीतियों का विरोध करना जिससे देश को नुकसान हो। नेता प्रतिपक्ष और विपक्षी दल भारतीय लोकतंत्र के लिए इतना हीं क्यों महत्त्वपूर्ण है, इसको वह रेडिफ डॉट कॉम के लिए नीरजा चौधरी को दिए गए साक्षात्कार में स्पष्ट करती हैं, "2009 के बाद भाजपा मुख्य विपक्षी दल थी, किंतु भाजपा को भारत के सभी राज्यों में लोकसभा में जीत नहीं मिली थी। ऐसे में प्रश्न यह था की विपक्षी दल क्या सीमित क्षेत्रों की भूमिका अदा करेगी? मैं मानती हूँ जिन राज्यों से हमारे एक भी सांसद नहीं चुन कर नहीं आए हैं वहाँ के भी मुद्दों को उठाने की जिम्मेदारी हमारी है, क्यों की हम मुख्य विपक्षी दल है।"[22] सुषमा स्वराज ने सही अर्थों में संसदीय प्रतिपक्ष की भूमिका को

भारतीय दलीय राजनीति में केंद्रीय भूमिका दिलाई। जिससे कोई भी असहमत नहीं हो सकता।

विपक्षी नेताओं का सदन से निष्कासन

सदन के पटल की सबसे अधिक आव्यशक्ता विपक्ष को होती है। अपनी आवाज से देश और सरकार को अवगत कराने के लिए। लेकिन 1989 के बाद से विपक्ष अपने उग्र व्यवहार के कारण सदन से निष्कासित होते रहें है। सदन से सामूहिक निष्कासन पहली बार 1989 में हुआ। ठक्कर कमीशन रिपोर्ट पर बहस के दौरान 63 लोकसभा सांसदों को निष्कासित किया गया।[23] संसदीय इतिहास में यह पहली बार हुआ की सत्तारूढ़ दल ने हीं अपने सांसदों को सदन से निलंबित किया। 2013-2014 में आंध्र विभाजन के मुद्दे पर कांग्रेस सरकार ने अपने हीं 18 सांसदों को सदन से निष्कासित कर दिया।[24]

2015 में व्यापाम के मुद्दे पर लगातार पाँच बैठक रद्द होने पर 25 लोकसभा सांसदों को पाँच दिनों के लिए सदन से निलंबित किया गया।[25] लोकसभा चुनाव देखते हुए 2019 में एआईडीएमके ने कावेरी नदी पर बांध और टीडीपी ने आंध्र प्रदेश को विशेष राज्य की माँग को लेकर लोकसभा में अभद्रता पूर्ण व्यवहार किया। परिणाम स्वरूप लोकसभा अध्यक्ष सुमित्रा महाजन ने लोकसभा के 45 सदस्यों को निष्कासित कर दिया।

2023 में सदन के शीतकालीन सत्र में विपक्ष के 146 सासंद दोनों सदनों से निष्कासित हुए। कारण था नए संसद में सुरक्षा चूक पर बहस को लेकर विपक्ष की माँग। लेकिन इस माँग को लेकर इस प्रकार आक्रामक हुआ की सदन की मर्यादा को वो भूल गए।

2014 के बाद संसदीय विपक्ष की स्थिति

हालाँकि 2014 के चुनाव ने संसदीय विपक्ष को सीमित कर दिया। इस बार एक तरफ जहां भाजपा पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आई तो विपक्षी कांग्रेस मात्र 44 सीटें हीं मात्र जीत पाई, जो नेता प्रतिपक्ष के लिए न्यूनतम आवश्यकता से 11 सीटें से कम थी। ऐसे में मान्यता प्राप्त दल और नेता प्रतिपक्ष का स्थान 2014 से 19 तक रिक्त रहा। 2019 के लोकसभा चुनाव में भाजपा को 302 सीटों पर जीत मिली वहीं कांग्रेस 52 सीटें, जो नेता प्रतिपक्ष के अहर्ता से तीन कम था। हालाँकि सरकार ने अधीर रंजन चौधरी को नेता प्रतिपक्ष का मान्यता दे दिया। लगातार दो चुनावों में विपक्षी दलों की घटती संख्याबल पर 2019 में बोलते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के कहा था कि, "लोकतंत्र में विपक्ष का होना, विपक्ष का सक्रिय होना, विपक्ष का सामर्थ्यवान होना यह लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त है और मैं आशा करता हूं कि प्रतिपक्ष के लोग नंबर की चिंता छोड़ दें। देश की जनता ने जो उनको नंबर दिया है, वह दिया है, लेकिन हमारे लिए उनका हर शब्द मूल्यवान है, उनकी हर भावना मूल्यवान है। और सदन में जब हम उस कुर्सी पर बैठते हैं, सांसद के रूप में बैठते हैं, तब पक्ष-विपक्ष से ज्यादा निष्पक्षता का भाव बहुत महत्व रखता है। और मुझे विश्वास है कि पक्ष और विपक्ष के दायरे में बंटने की बजाय निष्पक्ष भाव से जनकल्याण को प्राथमिकता देते हुए हम आने वाले पाँच साल के लिए इस सदन की गरिमा को ऊपर उठाने में प्रयास करेंगे।"

हालाँकि 2014 के चुनाव ने संसदीय विपक्ष को सीमित कर दिया। इस बार एक तरफ जहां भाजपा पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आई तो विपक्षी कांग्रेस मात्र 44 सीटें ही मात्र जीत पाई, जो नेता प्रतिपक्ष के लिए न्यूनतम आवश्यकता से 11 सीटें से कम थी। ऐसे में मान्यता प्राप्त दल और नेता प्रतिपक्ष का स्थान 2014 से 19 तक रिक्त रहा। 2019 के लोकसभा चुनाव में भाजपा को 302 सीटों पर जीत मिली वहीं कांग्रेस 52 सीटें, जो नेता प्रतिपक्ष के अहर्ता से तीन कम था

भारतीय संसदीय व्यवस्था में विपक्ष समय के साथ अपनी भूमिका का विस्तार की है। प्रभावशाली नेताओं के काल खंड से आज विपक्ष दलों के अनुशासन में कार्य कर रही है। साथ हीं भविष्य में विपक्ष संसदीय व्यवस्था को मजबूत करेगी या कमजोर यह प्रश्न समय ही तय करेगा।

जनसभागिता

संसदीय लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए निरंतर जनसहभागिता एक अनिवार्य शर्त है। भारत इससे अछूता नहीं रहा है। हमें यह परम्परा अपने इतिहास की देन है। प्राचीन भारत में सभा और समिति कार्यपालिका के कार्यों में जनसहभागिता का सबसे उपयुक्त उदाहरण है। भारतीय संसदीय व्यवस्था में जनसहभागिता को दो आधार पर समझा जा सकता है। पहला चुनावों में मतदान के द्वारा जनता की राजनीतिक सहभागिता और दूसरा नीति निर्माण में अपने परामर्श और सुझाव के संदर्भ द्वारा।

पहले और दूसरे लोकसभा में जहां लगभग 45 प्रतिशत लोगों ने मतदान किया तो तीसरे लोकसभा में इसमें दस प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। जब देश में आपातकाल के बाद चुनाव हुआ तो 60 प्रतिशत लोगों ने इसमें भाग लिया। 2019 में हुए सत्रहवें लोकसभा में यह भागीदारी बढ़ कर 67 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। जो अभी तक सर्वाधिक है। चुनावों में सहभागिता भारतीय संसदीय व्यवस्था को समय के साथ न सिर्फ मजबूत करने में सफल हुई है बल्कि बढ़ते मतदान प्रतिशत ने उससे व्यापक रूप में भारतीय जन आकांक्षाओं के प्रति सरोकार बढ़ाने में भी सहायता प्रदान की है।

वहीं दूसरी तरह 2014 में संसदीय व्यवस्था में जनसभागिता के दिशा में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सरकार ने विधान पूर्व परामर्श की नीति अपना कर तीस दिनों के भीतर प्रस्तावित विधानों पर जन सामान्य से सुझाव माँगने की परम्परा की शुरुआत की। इससे न सिर्फ विधि निर्माण प्रक्रिया में पारदर्शिता सुनिश्चित होगी बल्कि इसकी स्वीकार्यता भी जनमानस में बढ़ेगी। कुल मिलाकर समय के साथ सरकार विपक्ष और बढ़ती जनसहभागिता ने भारत संसदीय

व्यवस्था को एकात्म भाव में जोड़े रखने में व्यापक रूप में सफल होती दिखाई दे रही है।

निष्कर्ष

ऊपर के तथ्य और आकंडे का एक हीं निहतार्थ है, लोकतांत्रिक संस्था के रूप में संसद का पतन दलीय अनुशासन के नाम पर संकुचित स्वार्थ में स्वाहा हो गया। जिस संसद के पटल को उपयोग लोकतंत्र में जनता के हितों के लिए करना चाहिए था उसे दलीय टकराव का स्थान बना कर देश के जनता के साथ एक बड़ा छल किया गया। सही अर्थों में कहा जाए तो इस इस पतन का कारण है विपक्षी दलों में नेतृत्व, निर्णय और जनहित विचारों के जुड़ाव का अभाव। भारतीय राजनीति में वंशवाद एक कटु सत्य है। ऐसे में भाजपा के अलावा कुछ दलों को छोड़ दिया जाए तो सभी दल परिवार द्वारा नियंत्रित है। विपक्ष में रहते हुए बीजेपी ने जहां अटल, आडवाणी, जेटली और सुषमा स्वराज जैसे नेताओं को नेतृत्व सौंपा। जिन्होंने विपक्ष में रहते हुए हीं देश में अपनी पहचान बनाई। वहीं कांग्रेस पर गांधी परिवार, समाजवादी पार्टी पर यादव परिवार जैसे परिवारों के नियंत्रण ने विपक्षी स्वर को दलीय हित में दबा दिया।

संदर्भ-

1. https://prsindia.org/parliamenttrack/vital-stats/functioning-of-the-17th-lok-sabha
2. https://www.hindustantimes.com/india-news/parl-disruptions-mar-question-hour-data/story-U8YIPyIRGEh7qCxnpFcUDJ.html (Accessed on 9 February 2024)
3. CAD, VII.1.48, https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/ 763480/ 1/ cad_04-11-1948_hindi. pdf#search=null%201948 (Accessed on 2 February 2024)
4. Ibid
5. Madhu Dandavate, 'Role and Position of the Leader of the Opposition', edited by D. Sundar Ram, 'Reading in the Indian Parliamentary Opposition', 1992, Kanishka Publisher, New Delhi, p. 66
6. उम्मेद सिंह इंदा, संसदीय व्यवस्था में परिवर्तन की दिशा, 2010, कल्पाज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 107.
7. https://indianexpress.com/article/opinion/columns/when-jawaharlal-nehru-picked-opp-leader-as-deputy-speaker-8479573/ (Accessed on 2 February 2024)
8. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/785042/1/lsd_16_17_13-02-2019.pdf#search=null%20 [2010%20TO%202019]%202019, p. 186
9. https://prsindia.org/files/ parliament/session_track/2024/vital_stats/Functioning-17th_Lok_Sabha.pdf
10. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/58670/1/Eminent_ Parliamentarians_Series_Syama_ Prasad_Mookerjee. pdf (Accessed on 4 February 2024)
11. https://www.indiatoday.in/history-of-it/story/when-nehru-faced-indias-first-no-confidence-motion-on-1962-china-war-2412934-2023-07-28 (Accessed on 1 February 2024)
12. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761903/1/Eminent_ Parliamentarians_Series_Ram_ Manohar_Lohia_Hindi_.pdf, p. 10 (Accessed on 2 February 2024)
13. Ibid, p. 47
14. Ibid, p. 80
15. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761917/1/Madhu_Limaye_ Comme-morative_Volume_.pdf, p. 29 (Accessed on 2 February 2024)
16. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761917/1/Madhu_Limaye_ Commem-orative_Volume_.pdf, p. 57 (Accessed on 10 February 2024)
17. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761917/1/Madhu_Limaye_ Commemorative_Volume_.pdf, p. 156 (Accessed on 12 February 2024)
18. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761917/1/Madhu_Limaye_ Commem-orative_Volume_.pdf, p. 65 (Accessed on 22 February 2024)
19. https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/761917/1/Madhu_Limaye_ Commem-orative_Volume_.pdf, p. 65 (Accessed on 14 February 2024)
20. Ashok Tandon, '*Atal Bihari Vajpayee went against all odds to establish India's nuclear credentials*', 17 August 2018, available on https://economictimes.indiatimes.com/news/defence/ashok-tandon-atal-bihari-vajpayee-went-against-all-odds-to-establish-indias-nuclear-credentials/articleshow/65432933. cms?from=mdr (Accessed on 2 February 2024)
21. https://economictimes.indiatimes.com/news/politics-and-nation/21-mps-cross-voted-during-parliament-trust-motion/articleshow/3268020. cms?from=mdr
22. https://news.rediff.com/slide-show/2010/feb/19/slide-show-1-interview-with-leader-of-opposition-in-lok-sabha-sushma-swaraj.htm (Accessed on 2 February 2024)
23. https://www.thehindu.com/news/national/watch-when-63-mps-were-suspended-from-parliament-in-1989/article67683435.ece (Accessed on 2 February 2024)
24. https://www.thehindu.com/news/national/18-andhra-mps-suspended-from-lok-sabha/article5684700.ece (Accessed on 2 February 2024)
25. https://www.indiatoday.in/india/story/27-congress-mps-suspended-from-lok-sabha-286166-2015-08-03 (Accessed on 2 February 2024)

प्रो. रेखा सक्सेना

सहकारी से प्रतिस्पर्धी और सहयोगात्मक संघवाद की ओर

भारतीय लोकतंत्र अपने सहकारी संघवाद के लिए जाना जाता है, लेकिन आज हमें अपने प्रांतों के बीच सहयोग के साथ-साथ प्रतिस्पर्धा की भी आवश्यकता है। सहकारी प्रतिस्पर्धी संघवाद की अवधारणा पर एक दृष्टि

पिछले साल 15 अगस्त को भारत ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से अपनी मुक्ति की 76वीं वर्षगांठ मनाई। जब देश 'आजादी के अमृत काल' (स्वतंत्रता के अमृतत्व) की ओर बढ़ रहा था, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने स्वतंत्रता दिवस पर अपने लगातार नौवें संबोधन के दौरान, स्वतंत्रता के शताब्दी समारोह तक आने वाले 25 वर्षों के लिए एक दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्तुत की। इस आकांक्षा की दिशा में, उन्होंने राष्ट्र को प्रगति की ओर अग्रसर करने के लिए 'सबका प्रयास' (सामूहिक प्रयास) की अनिवार्यता को रेखांकित किया। देश के विधायी ढाँचे में राज्यों को महत्त्वपूर्ण स्तंभों के रूप में मान्यता देते हुए, प्रधानमंत्री ने 'प्रतिस्पर्धी सहकारी संघवाद' के प्रतिमान की वकालत की, जिसमें राज्य विकास के अभूतपूर्व स्तरों को प्राप्त करने में एक-दूसरे से आगे निकलने का प्रयास करते हैं।

सहकारी और प्रतिस्पर्धी संघवाद को समझना

सहकारी संघवाद केंद्र और राज्य सरकारों के बीच एक क्षैतिज गतिशीलता का प्रतीक है, जो व्यापक जन कल्याण की दिशा में साझा चुनौतियों का समाधान करने के लिए सहयोग को बढ़ावा देता है। इसके विपरीत, प्रतिस्पर्धी संघवाद एक ऊर्ध्वाधर संबंध को दर्शाता है जिसमें राज्य केंद्र सरकार की व्यापक निगरानी में एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। यद्यपि ये प्रतिमान शुरू में विरोधाभासी लग सकते हैं, किन्तु दोनों ही निष्पक्ष और न्यायसंगत तरीके से आर्थिक उन्नति और राष्ट्रीय कल्याण को बढ़ावा देने के व्यापक उद्देश्यों की ओर निर्देशित हैं। प्रारंभ में, हमारे संविधान ने मुख्य रूप से सहकारी संघवाद के सिद्धांतों का समर्थन किया, जिसमें अंतर-राज्य परिषद, क्षेत्रीय परिषद और सातवीं अनुसूची के भीतर परिसीमन जैसे तंत्रों का उपयोग किया गया। लेकिन, समय के साथ, जब राज्यों ने पूँजी और निवेश को आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्धा करना शुरू किया, जिससे आर्थिक गतिविधि को बढ़ावा मिले और प्रशासनिक प्रभावकारिता में वृद्धि हो, तो प्रतिस्पर्धी संघवाद की आवश्यकता स्वत: ही स्पष्ट हो गई। यह दृष्टिकोण भौतिक और सामाजिक बुनियादी ढाँचे दोनों के विकास में राज्यों के बीच स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देकर न्यूनतम संसाधन अपक्षय और इष्टतम संसाधन उपयोग सुनिश्चित करता है।

प्रधानमंत्री मोदी ने अपने संबोधन में माना कि केंद्र और राज्यों की योजनाएँ और काम करने का तरीका अलग-अलग हो सकता है, लेकिन किसी राष्ट्र के सपने अलग-अलग नहीं हो सकते। उन्होंने ऐसे युग की ओर बढ़ने का आह्वान किया, जहाँ किसी भी राज्य की प्रगति भारत की प्रगति के लिए हो। कई राज्यों ने देश को आगे बढ़ाने में बड़ी भूमिका निभाई है, कई क्षेत्रों में नेतृत्व किया है और उदाहरण के तौर पर काम किया है। इससे हमारे संघवाद को मजबूती मिलती है। लेकिन आज हमें विकास को बढ़ावा देने के लिए सिर्फ सहयोग की नहीं, बल्कि प्रतिस्पर्धा की भी जरूरत है। यह पहली बार नहीं है जब उन्होंने सहकारी प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद के मॉडल को लागू

करने पर जोर दिया।

1994 के बाद से भारतीय संघवाद के औपचारिक ढाँचे में केवल मामूली समायोजन हुए हैं। विशेष रूप से, उस समय से अनन्य केंद्रीय शक्तियों की सूची में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि 88वाँ संशोधन, जो सेवाओं पर करों की जिम्मेदारी केंद्र को सौंपता, अभी तक लागू नहीं हुआ है; इसकी पुष्टि करने के लिए सत्यापन की आवश्यकता है। जहाँ समवर्ती और राज्य सूचियों से संबंधित किसी भी संशोधन की पुष्टि नहीं की गई है, वहीं संविधान के भाग XII के प्रावधानों के अनुसार केंद्र और राज्यों के बीच कर संसाधनों के आवंटन में परिवर्तन हुए हैं। (स्वेनडेन, 2014)।

फिर भी, केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों के औपचारिक आवंटन में सापेक्ष स्थिरता के बावजूद, इन शक्तियों के प्रयोग में महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए हैं। सक्सेना और सिंह (2013) इन परिवर्तनों को संघीयकरण के सूचकांक के रूप में पहचानते हैं, जिनमें शामिल हैं:

- राष्ट्रपति शासन लागू करने में उल्लेखनीय गिरावट आई है, जिसे कुछ हद तक बोम्मई जैसे सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक फैसलों से मदद मिली है, जिसका उद्देश्य इसके प्रयोग को प्रतिबंधित करके पक्षपातपूर्ण राजनैतिक उद्देश्यों के लिए इसके दुरुपयोग को रोकना था।
- राज्यों की विधायी प्रक्रियाओं में केंद्रीय हस्तक्षेप की घटनाओं में कमी आई है, विशेष रूप से राज्य के विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखने की राज्यपाल की शक्ति के कम उपयोग से इसका प्रमाण मिलता है।
- विदेश नीति के मामलों में राज्य अपनी स्वायत्तता का दावा करते हैं, खासकर जब यह राज्य के हितों से संबंधित हो, जैसे कि 1995 में डब्ल्यूटीओ संधि का कृषि पर प्रभाव, जो पारंपरिक रूप से राज्य के अधिकार क्षेत्र में आता है, और तृणमूल कांग्रेस के नेतृत्व वाली पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा भारत-बांग्लादेशी जल-साझाकरण समझौते का विरोध करने के लिए सफल पैरवी प्रयास। इसके अतिरिक्त, राज्य सरकारों के मुख्यमंत्रियों और वित्त मंत्रियों ने पूँजी निवेश को आकर्षित करने के लिए विदेशी मिशनों में तेजी से भाग लिया है।
- राष्ट्रपतियों और राज्यपालों द्वारा राज्य सरकारों और विधानसभाओं के संबंध में विवेकाधीन शक्तियों का बढ़ता उपयोग, जहाँ ऐसी कार्रवाइयाँ स्पष्ट रूप से संसदीय सहमति के अधीन नहीं हैं। हालाँकि, ये दृष्टांत एक विरोधाभासी प्रवृत्ति प्रस्तुत करते हैं, जिसके लिए आगे की जाँच और विश्लेषण की आवश्यकता है।

उदारीकरण और संघीयकरण की ओर

केंद्र-राज्य संबंधों के इर्द-गिर्द चल रहे विमर्श में, समकालीन विद्वानों ने भारत की नीति व्यवस्था के भीतर मूलभूत बदलावों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। लॉरेंस सैज का मानना है कि 1990 के दशक में आर्थिक उदारीकरण नीतियों की शुरुआत के बाद संघीय संबंधों में अंतर-सरकारी सहयोग से लेकर राज्यों के बीच अंतर-क्षेत्राधिकार संघर्षों तक में तीव्र बदलाव हुआ (सैज 2002)।

1991 के उदारीकरण उपायों ने न केवल सार्वजनिक से निजी क्षेत्र में और राज्य नियंत्रण से बाजार तंत्र में संक्रमण को सुगम बनाया, बल्कि क्षेत्रीय राज्यों और केंद्र सरकार के बीच संबंधों को भी फिर से परिभाषित किया। रॉब जेनकिंस ने तर्क दिया है कि संघीयकरण की इस प्रक्रिया ने राज्य स्तर पर विरोध को स्थानांतरित करके भारत की सुधार प्रक्रिया की राजनैतिक स्थिरता में योगदान दिया है। (जेनकिंस 1995)

इस संदर्भ में, एमपी सिंह का तर्क है कि संघवाद और नव-आर्थिक सुधारों के बीच एक सहजीवी संबंध मौजूद है, जिसमें दोनों तत्व सामूहिक रूप से राज्य सरकारों और घरेलू/वैश्विक निजी क्षेत्र की स्वायत्तता को बढ़ाते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना एक नई घटना को जन्म देती है, जिसकी विशेषता एक नियामक राज्य और क्षेत्रीय संघवाद है, जो प्रकृति में ऊर्ध्वाधर से अधिक क्षैतिज है। यह क्षैतिज अभिविन्यास मुख्य रूप से अर्थव्यवस्था के प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण से दूर एक नए राजनैतिक व्यवस्था के ढाँचे के भीतर स्वायत्त नियामक निकायों की स्थापना की ओर संक्रमण से उपजा है। (दुआ और सिंह 2003)।

क्षेत्रीय राज्यों ने आर्थिक सुधारों को आकार देने और लागू करने के लिए विविध दृष्टिकोण अपनाए हैं, एक ऐसी घटना जिसका कैनेडी (2004) जैसे विद्वानों द्वारा व्यापक रूप से विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त, 1991 के बाद के युग में केंद्र-राज्य संबंधों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और निरंतरता देखी गई है। सुधार के बाद के युग में प्रतिस्पर्धा की प्रकृति राज्यों के बीच सहयोग और केंद्र के प्रभुत्व की विशेषता से विकसित होकर आज देखी जाने वाली एक अलग गतिशीलता में बदल गई है। सिन्हा (2004) ने चिन्हित किया है कि सुधार के बाद की प्रतिस्पर्धा एक ऊर्ध्वाधर मॉडल से, जहाँ राज्य केंद्र द्वारा निर्धारित संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं, एक क्षैतिज मॉडल में परिवर्तित

क्षेत्रीय राज्यों ने आर्थिक सुधारों को आकार देने और लागू करने के लिए विविध दृष्टिकोण अपनाए हैं, एक ऐसी घटना जिसका कैनेडी जैसे विद्वानों द्वारा व्यापक रूप से विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त, 1991 के बाद के युग में केंद्र-राज्य संबंधों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और निरंतरता देखी गई है। सुधार के बाद के युग में प्रतिस्पर्धा की प्रकृति राज्यों के बीच सहयोग और केंद्र के प्रभुत्व की विशेषता से विकसित होकर आज देखी जाने वाली एक अलग गतिशीलता में बदल गई है

हो गई है, जहाँ राज्य कई अभिकर्ताओं से संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। समरुपीय क्षैतिज प्रतिस्पर्धा में इस बदलाव ने, पूर्व परिलक्षित प्रवृति की तुलना में, बड़ी संख्या में राज्यों के बीच अनुकरण के माध्यम से प्रसार और सीखने की प्रक्रियाओं को प्रेरित किया है। प्रतिस्पर्धी राज्यों की संख्या में वृद्धि और नीतियों और विमर्शों के स्पष्ट अभिसरण के बावजूद, परिणामों में क्षेत्रीय असमानताएँ बनी हुई हैं। (तदैव)।

अपने विवेकपूर्ण विश्लेषण में, रूडोल्फ्स का तर्क है कि भारत में 1990 के दशक के आर्थिक सुधारों ने भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति में परिवर्तन उत्पन्न किया है। इस परिवर्तन ने एक नियंत्रित अर्थव्यवस्था से संघीय बाजार अर्थव्यवस्था में बदलाव देखा है, जिससे राज्य और बाजार के बीच व्यापक "संप्रभुता का बंटवारा" संभव हुआ है। इस नए युग में, राज्यों ने आर्थिक संप्रभुता का एक बड़ा अंश नियंत्रित करना शुरू कर दिया है, जो केंद्रीय रूप से नियोजित अर्थव्यवस्था के युग से अलग है, जहाँ उनकी स्वायत्तता अधिक सीमित थी। उनके आर्थिक प्रदर्शन का मूल्यांकन अब उनके स्वतंत्र कार्यों पर अधिक निर्भर करता है। वर्तमान में, राज्य निजी निवेश के लिए प्राथमिक गंतव्य के रूप में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जो दीर्घकालिक सहयोग के माध्यम से पारस्परिक हित और लाभ प्रदान करते हैं, और अल्पकालिक लाभों को त्यागने की आवश्यकता का सुझाव देते हैं। महत्त्वपूर्ण रूप से, केंद्र सरकार की भूमिका में "संघीय बाजार अर्थव्यवस्था" के हस्तक्षेपकारी संरक्षक से पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करते हुए "राजकोषीय अनुशासन" को लागू करने वाले के रूप में परिवर्तन हुआ है (रूडोल्फ और रूडोल्फ, 2001)। वैश्वीकरण के युग में, भारतीय संघ के भीतर राज्य दुर्जेय संस्थाओं के रूप में उभरे हैं, जो उनके महत्व को रेखांकित करता है। यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ राज्यों पर वैश्वीकरण और वृहत-सुधारों के साथ वैचारिक रूप से असंगत राजनैतिक दलों द्वारा शासन किया जाता है। (भट्टाचार्य और कोनिग 2016)।

संघीय व्यवस्था में सुधार

वेंकटचलैया की अध्यक्षता वाले संविधान के कामकाज की समीक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग (एनसीआरडब्ल्यूसी) और न्यायमूर्ति एमएम पुंछी की अध्यक्षता वाले केंद्र-राज्य संबंधों पर दूसरे आयोग सहित विभिन्न आयोगों द्वारा प्रस्तुत सिफारिशें अंतर-राज्य परिषद (आईएससी) और राष्ट्रीय विकास परिषद (एनडीसी) जैसे अंतर-सरकारी मंचों के सशक्तीकरण पर केंद्रित हैं। ये सिफारिशें संघ और राज्यों के बीच परामर्श और निर्णय लेने के तंत्र के रूप में इन मंचों को सक्रिय और संस्थागत बनाने की वकालत करती हैं, जिसमें घरेलू और विदेश नीति दोनों मामले शामिल हैं।

स्वेनडेन और सक्सेना ने भारत में केंद्र-राज्य संबंधों पर योजना आयोग के प्रभाव का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। उनका तर्क है कि योजना आयोग ने अपने पंचवर्षीय और वार्षिक नियोजन के प्रशासन, केंद्र प्रायोजित योजनाओं (सीएसएस) को तैयार करने और प्रबंधन करने में अपनी भूमिका और अनुदान देने में अपने विवेक के माध्यम से एक केंद्रीकृत प्रभाव डाला। अपने अधिदेश के बावजूद, योजना आयोग केंद्र सरकार की नीति प्राथमिकताओं और अंतरराज्यीय मतभेदों के कारण केंद्रीकृत प्रवृत्तियों को संतुलित करने में सक्षम एक साझा शासन संस्था के रूप में विकसित होने में विफल रहा।

नीति आयोग एवं अन्य संस्थाओं की भूमिका

योजना आयोग, जिसे अक्सर केंद्र सरकार का वास्तविक विस्तार माना जाता है, ने अनुदान आवंटन और केंद्रीय और राज्य नियोजन में अपनी भागीदारी के माध्यम से भारतीय संघवाद के केंद्रीयकरण में योगदान दिया। इसके अलावा, इसके कार्यों ने कभी-कभी वित्त आयोग के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण किया, जो एक वैधानिक निकाय है, और जो केंद्र और राज्यों को अधिक सूत्रबद्ध और कम विवेकाधीन तरीके से एकत्रित कर राजस्व आवंटित करने के लिए जिम्मेदार है। (स्वेनडेन और सक्सेना 2017)।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक सुधार योजना आयोग का नीति आयोग (भारत को बदलने के लिए राष्ट्रीय संस्थान) में रूपांतरण है, जिसे मंत्रिमंडल के प्रस्ताव के माध्यम से स्थापित किया गया है। यह नीति थिंक-टैंक मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में कार्यरत एक सिविल सेवक, दो पूर्णकालिक विशेषज्ञ (एक अर्थशास्त्री और एक रक्षा अनुसंधान और विकास विशेषज्ञ), छह केंद्रीय मंत्रियों (तीन पदेन और तीन विशेष आमंत्रित) से बना है, जिसमें मुक्त बाजार अर्थशास्त्री अरविंद पनगढ़िया को उपाध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया गया है और प्रधानमंत्री अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं। नीति आयोग का प्राथमिक उद्देश्य प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों द्वारा 'सहकारी संघवाद' को बढ़ावा देने के लिए उपयोग किए जाने वाले 'राष्ट्रीय एजेंडे' को आगे बढ़ाना है। इसकी शासी परिषद में राज्यों के सभी मुख्यमंत्री और केंद्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल हैं, जिसमें प्रधानमंत्री फिर से अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं।

सहकारी संघवाद को मजबूत करने के लिए स्थापित नीति आयोग ने 2017 की शुरुआत में ही सहयोग और प्रतिस्पर्धा के मिश्रण की वकालत की थी, जिसमें भारत में परिवर्तन को आगे बढ़ाने में राज्यों की भूमिका को रेखांकित किया गया था। अपने सूचकांक दृष्टिकोण के माध्यम से, नीति आयोग ने स्कूल शिक्षा गुणवत्ता सूचकांक, सतत विकास लक्ष्य सूचकांक, राज्य स्वास्थ्य सूचकांक, भारत नवाचार सूचकांक, समग्र जल प्रबंधन सूचकांक और निर्यात तैयारी सूचकांक जैसे क्षेत्र-विशिष्ट सूचकांक पेश किए, जिससे राज्यों के बीच रचनात्मक प्रतिस्पर्धा का एक नया युग शुरू हुआ। इसके अतिरिक्त, आयोग नियमित रूप से आकांक्षी जिलों के प्रदर्शन पर रैंकिंग प्रकाशित करता है, जो 2018 में देश भर के सबसे अविकसित 112 जिलों को तेजी से और प्रभावी रूप से पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से शुरू किया गया एक कार्यक्रम

है। सहयोग और प्रतिस्पर्धा का यह संयोजन सुनिश्चित करता है कि ये जिले न केवल अपने-अपने राज्यों में उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करें बल्कि सक्रिय रूप से आवश्यक समर्थन भी प्राप्त करें। समय के साथ, कार्यक्रम का विस्तार प्रत्येक जिले के भीतर ब्लॉक स्तर पर प्रगति पर केंद्रित करने के लिए किया गया है।

2017 में, नीति आयोग ने "सहकारी संघवाद" के लिए एक प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोण की वकालत की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि यह रणनीति केंद्र और राज्यों के बीच गतिशीलता को फिर से परिभाषित करेगी। नीति आयोग के पूर्व उपाध्यक्ष अरविंद पनगढ़िया ने भारत की ब्रांड छवि को नया आकार देने में राज्यों की जिम्मेदारी पर जोर दिया। एक बैठक के दौरान, राज्यों के मुख्य सचिवों ने विचारों के आदान-प्रदान और क्रॉस-परागण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अपने-अपने क्षेत्रों में लागू की गई सर्वोत्तम प्रथाओं का प्रदर्शन किया।

नीति आयोग की क्रियायों से राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक लेकिन सहयोगात्मक माहौल को बढ़ावा देने में आशा की किरण दिखाई देती है, जिससे उन्हें "सहकारी, प्रतिस्पर्धी संघवाद" के लोकाचार के तहत शासन संबंधी पहलों का नेतृत्व करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। नीति आयोग का एक प्रमुख उद्देश्य गतिशील संस्थागत तंत्र स्थापित करना है, जहाँ "सरकारी प्रणाली से बाहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति" नीति निर्माण में योगदान दे सकें।

आयोग की प्राथमिकताएं कौशल विकास पर 66 केंद्रीय योजनाओं को सुव्यवस्थित करने और स्वच्छ भारत को एक सतत कार्यक्रम में बदलने की इसकी सिफारिशों में स्पष्ट हैं, जिसके परिणामस्वरूप तीन मुख्यमंत्री उप-समितियों का गठन किया गया है। सूक्ष्म तरीके से, नीति आयोग न केवल राज्य सुधार के लिए परियोजना कार्यान्वयन में तेजी लाने के लिए मुख्यमंत्रियों की जिम्मेदारी को रेखांकित करता है, बल्कि राज्यों को आकर्षक निवेश गंतव्यों के रूप में स्थापित करने का लक्ष्य भी रखता है - जो प्रतिस्पर्धी संघवाद की अभिव्यक्ति है।

आयोग की प्राथमिकताएं कौशल विकास पर 66 केंद्रीय योजनाओं को सुव्यवस्थित करने और स्वच्छ भारत को एक सतत कार्यक्रम में बदलने की इसकी सिफारिशों में स्पष्ट हैं, जिसके परिणामस्वरूप तीन मुख्यमंत्री उप-समितियों का गठन किया गया है। सूक्ष्म तरीके से, नीति आयोग न केवल राज्य सुधार के लिए परियोजना कार्यान्वयन में तेजी लाने के लिए मुख्यमंत्रियों की जिम्मेदारी को रेखांकित करता है, बल्कि राज्यों को आकर्षक निवेश गंतव्यों के रूप में स्थापित करने का लक्ष्य भी रखता है - जो प्रतिस्पर्धी संघवाद की अभिव्यक्ति है

राज्यों के बीच सहयोग करने और एक-दूसरे से जानकारी प्राप्त करने की बढ़ी हुई गुंजाइश को देखते हुए, यह स्पष्ट है कि संघवाद को पनपने के लिए, इन राज्यों को साझा राष्ट्रीय उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में अपनी भूमिका निभानी चाहिए। हालाँकि, यह ध्यान देने योग्य है कि नीति आयोग के लिए वैधानिक दर्जा न होने से यह भविष्य में किसी अलग राजनैतिक शासन के तहत बदलावों के प्रति संवेदनशील हो सकता है, जिससे इसकी प्रभावकारिता कम हो सकती है।

अंतर-राज्य परिषद (आईएससी) में नीति आयोग की गवर्निंग काउंसिल के रूप में काम करने की क्षमता थी, फिर भी इसे स्थापित करने वाली जनता दल के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार सहित लगातार सरकारों ने राजनैतिक लाभ के लिए इसकी भूमिका को कम करने का विकल्प चुना है। हालाँकि, नीति आयोग और इसकी गवर्निंग काउंसिल दोनों को ही अनौपचारिकता की अधिकता की विशेषता रही है, जो सरकार में नीति सलाह के लिए नियमित चैनल के रूप में काम करने के बजाय विशिष्ट रेफरल द्वारा सक्रिय तदर्थ विचार-विमर्श करने वाले निकायों के रूप में अधिक कार्य करती है। यह नेहरू-युग के योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद (एनडीसी) के बिल्कुल विपरीत है, जिन्हें पंचवर्षीय योजनाओं के लिए दिशा-निर्देश प्रदान करने और मसौदा योजनाओं को मंजूरी देने का काम सौंपा गया था। (सिंह, सक्सेना और भारद्वाज, 2015)।

वस्तुत:, नीति आयोग क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना करके, जिनका उद्देश्य कई राज्यों या क्षेत्रों को प्रभावित करने वाली विशिष्ट आकस्मिकताओं से निपटना है, स्वयं को योजना आयोग से अलग दिखाता है। प्रधानमंत्री द्वारा बुलाई गई और अध्यक्षता की जाने वाली इन परिषदों में संबंधित राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुख्यमंत्रियों का एक समूह शामिल होता है। (कैबिनेट संकल्प 1 जनवरी, 2015)

फरवरी 2015 में अपनी उद्घाटन बैठक के दौरान, नीति गवर्निंग काउंसिल ने केंद्र प्रायोजित योजनाओं (सीएसएस), कौशल विकास और स्वच्छ भारत अभियान (स्वच्छ भारत मिशन) के पुनर्गठन पर ध्यान केंद्रित करते हुए तीन क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त, नीति आयोग ने गरीबी उन्मूलन और कृषि विकास पहलों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए मुख्य रूप से वरिष्ठ सिविल सेवकों और सलाहकारों से युक्त छोटे टास्क फोर्स की स्थापना की है। (नीति ब्रीफ 1. अप्रैल 2015 को www.niti.gov.in के माध्यम से उपलब्ध)।

कई विशेषज्ञों ने नीति आयोग की संरचना में संगठनात्मक परिवर्तनों का स्वागत किया है, क्योंकि इस पुनर्गठन से नीति निर्माण के प्रारंभिक चरणों में राज्यों की अधिक भागीदारी की संभावना बढ़ गई है। (इंदिरा राजारामन के साथ साक्षात्कार, 9 मार्च, 2015; अमिताभ पांडे के साथ, 16 मार्च, 2015) ।

स्वेनडेन का दावा है कि योजना आयोग की तुलना में नीति आयोग बाहरी रूप से

भर्ती किए गए नीति विश्लेषकों को ज्यादा अल्पकालिक अनुबंध देने में सक्षम रहा है, हालाँकि ज्यादातर जूनियर स्तर पर। हालाँकि, उनका मानना है कि नीति आयोग 'संघीय' थिंक टैंक या अंतर-सरकारी केंद्र के रूप में अपनी भूमिका को बेहतर ढंग से निभाने के लिए राज्यों से सिविल सेवकों या पेशेवरों को शामिल कर सकता था, जो कि वह करने में काफी हद तक विफल रहा है। स्वेनडेन का तर्क है कि "टीम इंडिया" को बढ़ावा देने और 'प्रतिस्पर्धी सहकारी संघवाद' को बढ़ावा देने में राज्यों के साथ काम करने में नीति आयोग का योगदान मिश्रित रहा है।

संगठनात्मक संरचना के संदर्भ में, नीति आयोग प्रधानमंत्री, जो इसके अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं, के अधिकार के तहत एक केंद्रीय राजनैतिक संस्था के रूप में कार्य करता है। अन्य सदस्यों में सचिव के पद के साथ एक सीईओ, प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त एक उपाध्यक्ष, तीन पूर्णकालिक सदस्य, चार पदेन सदस्य और तीन विशेष आमंत्रित सदस्य शामिल हैं, जो सभी केंद्रीय मंत्रियों से संबंधित हैं। नीति आयोग के एक सदस्य ने इस बात पर जोर दिया कि "चूंकि नीति आयोग प्रधानमंत्री को रिपोर्ट करता है, इसलिए प्रधानमंत्री के लिए यह चुनना तर्कसंगत है कि इसके सदस्य कौन बनेंगे और नीति आयोग का एजेंडा निर्धारित करेंगे।" (स्वेनडेन 2019)।

कर सुधारों में एक और महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन मूल्य वर्धित कर (वैट) से माल और सेवा कर (जीएसटी) में परिवर्तन है, जिसका उद्देश्य भारत को एक एकीकृत राष्ट्रीय बाजार के रूप में स्थापित करना है। जीएसटी परिषद, जो इसके प्रशासन के लिए जिम्मेदार है, में केंद्रीय वित्त मंत्री अध्यक्ष के रूप में और राज्य के वित्त मंत्री सदस्य के रूप में शामिल हैं, जिसमें राज्यों के पास दो-तिहाई मतदान अधिकार है। फिर भी, जीएसटी परिषद में बहुमत के फैसले में केंद्रीय वित्त मंत्री को शामिल किया जाना आवश्यक है।

विशेषज्ञों का तर्क है कि जीएसटी से "भारत में व्यापार करने में आसानी" बढ़ेगी और सरकारी राजस्व में वृद्धि होगी। उपभोक्ताओं के लिए सामान सस्ते हो सकते हैं जबकि शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा सहित सेवाएं महंगी हो सकती हैं। वास्तविकता यह है कि पेट्रोलियम उत्पादों, बिजली, रियल एस्टेट और शराब के लिए छूट आम राष्ट्रीय बाजार के दायरे को सीमित करती है। इसके अतिरिक्त, संविधान निर्माताओं द्वारा परिकल्पित एक सामान्य व्यापार और वाणिज्य आयोग का निर्माण अभी भी मायावी बना हुआ है।

14वें वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने से विकेंद्रीकरण में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, जिसके तहत राज्यों को अब विभाज्य पूल का 42% हिस्सा मिल रहा है, जबकि पिछले आयोग ने 32% हिस्सा देने का सुझाव दिया था। यह बढ़ा हुआ विकेंद्रीकरण राज्यों को ऐसे कार्यक्रम डिजाइन करने और लागू करने का अधिकार देता है जो उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप हों।

जहाँ प्रतिस्पर्धी संघवाद को सभी राज्यों ने पूरी तरह से नहीं अपनाया है, वहीँ कई राज्य अपने कारोबारी माहौल को बेहतर बनाने के लिए सक्रिय रूप से कदम उठा रहे हैं। इसमें भूमि अधिग्रहण और श्रम लचीलेपन से संबंधित चुनौतीपूर्ण सुधार करना शामिल है। नतीजतन, संघवाद अब केंद्र-राज्य संबंधों में तनाव का स्रोत नहीं रह गया है, बल्कि यह एक नई साझेदारी प्रतिमान का प्रतिनिधित्व करता है, जो 'टीम इंडिया' के हिस्से के रूप में सभी हितधारकों के बीच सहयोग को बढ़ावा देता है।

स्वेनडेन का दावा है कि योजना आयोग की तुलना में नीति आयोग बाहरी रूप से भर्ती किए गए नीति विश्लेषकों को ज्यादा अल्पकालिक अनुबंध देने में सक्षम रहा है, हालाँकि ज्यादातर जूनियर स्तर पर। हालाँकि, उनका मानना है कि नीति आयोग 'संघीय' थिंक टैंक या अंतर-सरकारी केंद्र के रूप में अपनी भूमिका को बेहतर ढंग से निभाने के लिए राज्यों से सिविल सेवकों या पेशेवरों को शामिल कर सकता था, जो कि वह करने में काफी हद तक विफल रहा है। स्वेनडेन का तर्क है कि "टीम इंडिया" को बढ़ावा देने और 'प्रतिस्पर्धी सहकारी संघवाद' को बढ़ावा देने में राज्यों के साथ काम करने में नीति आयोग का योगदान मिश्रित रहा है

भारतीय संघीय ढाँचे में सहयोग और सहकार

केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग लंबे समय से सामाजिक क्षेत्र में एक ज्वलंत बिंदु रहा है, खासकर शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में। 1976 में भारत के संविधान में 42वें संशोधन ने शिक्षा के विषय को राज्य सूची से समवर्ती सूची में स्थानांतरित कर दिया, जिससे शिक्षा में संघ के समवर्ती क्षेत्राधिकार का विस्तार हुआ, जो पहले विशेष राज्य क्षेत्राधिकार के अधीन था। इस संवैधानिक संशोधन के अलावा, संघ के विभिन्न अधिनियमों और कई अधीनस्थ विधानों ने शिक्षा में संघीय परिदृश्य को नया रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। शिक्षा में केंद्रीय विनियामक एजेंसियों और केंद्र प्रायोजित योजनाओं का प्रसार महत्त्वपूर्ण विकास का प्रतिनिधित्व करता है जिसने भारत में संघ-राज्य संबंधों में नए और महत्त्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत किए हैं।

शैक्षिक संघवाद में इन उत्तर-संविधान विकासक्रमों की पृष्ठभूमि में, शिक्षा में संघ-राज्य संबंधों के उभरते आयामों की जांच करना उचित है। हाल के दशकों में संघ की नीतिगत पहल, जिसमें केंद्रीय विनियामक एजेंसियों की स्थापना और

हाल ही में शुरू की गई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की केंद्र प्रायोजित योजना शामिल है, ने शिक्षा के क्षेत्र में केंद्र सरकार के प्रयासों को और मजबूत किया है। उच्चतर शिक्षा अभियान (RUSA) इन संबंधों को समझने के लिए आधार का काम करेगा।

महामारी के दौरान स्वास्थ्य का मुद्दा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कोविड-19 के वैश्विक प्रसार ने ऐसे संकटों से निपटने में सहकारी संघवाद की आवश्यकता को रेखांकित किया है, क्योंकि सरकार के सभी स्तरों को उन्हें कम करने और प्रभावी ढंग से प्रबंधित करने के उपायों को लागू करना आवश्यक हो गया। जहाँ स्वास्थ्य सेवा आमतौर पर कई देशों में प्रांतीय सरकारों के दायरे में आती है, वहीँ केंद्र सरकारों को महामारी के दौरान सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए, विशेषकर जब नागरिकों का जीवन जोखिम में हो। स्थानीय सरकारें निवारक उपायों को लागू करने और सरकार के अन्य स्तरों द्वारा हस्तक्षेप के नतीजों से निपटने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार, शक्तियों और दायित्वों के वितरण के बावजूद, सरकार के सभी स्तरों के बीच घनिष्ठ समन्वय आवश्यक है, जो सहकारी संघवाद की भावना का प्रतीक है।

केंद्र सरकार द्वारा पूरे देश में एक समान उपायों के क्रियान्वयन के बावजूद, कुछ राज्य संकट प्रबंधन के लिए अभिनव दृष्टिकोण अपना सकते हैं, जो दूसरों के लिए मूल्यवान सबक प्रदान करते हैं। फिर भी, यदि राज्य सरकारें एक-दूसरे से सहयोग करने और सीखने के बजाय केंद्र सरकार के उपायों में बाधा डालती हैं, तो संकट बढ़ सकता है। इसलिए, सरकार के सभी स्तरों के बीच प्रभावी समन्वय और आपसी सीख महत्त्वपूर्ण है। संकट की स्थितियों में एक अच्छी तरह से काम करने वाली संघीय प्रणाली एक वरदान हो सकती है, लेकिन सद्भाव और सहयोग की कमी महामारी और अन्य संकटों के दौरान चुनौतियों को बढ़ा सकती है। (स्टाइलर, मेल कम्युनिकेशन, 24 मार्च, 2020 को 12:55 बजे)।

भारतीय संघवाद एक महत्त्वपूर्ण मोड़ पर खड़ा है, जहाँ प्रतिस्पर्धा और सहयोग की परस्पर क्रिया इसकी दिशा तय करेगी। वैश्वीकरण के दौर में राज्यों के बीच और केंद्र और राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा तेज हो गई है, लेकिन सुरक्षा, सामाजिक क्षेत्रों और विदेश-संबंधों जैसे विभिन्न क्षेत्रों में वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न चुनौतियों के कारण सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग बढ़ाना जरूरी हो गया है। ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज दोनों तरह से सहयोग,संघीय व्यवस्था की एक परिभाषित विशेषता है, और सुरक्षा संबंधी खतरों से निपटने में यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है

2014 से ही भाजपा के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार सहकारी संघवाद के एजेंडे की हिमायत कर रही है। नीति आयोग और जीएसटी परिषद जैसी संस्थाओं की स्थापना को सरकार ने सहकारी संघवाद हासिल करने की दिशा में उठाए गए कदमों के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन, आलोचक सहकारी संघवाद हेतु सरकार की कोशिशों को महज राजनैतिक बयानबाजी मानते हैं, उनका कहना है कि केंद्र सरकार का दबदबा स्पष्ट है और केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच टकराव काफी बढ़ गया है, खासकर 2019 के चुनावों के बाद, जिसमें भाजपा के नेतृत्व वाले एनडीए ने लोकसभा में निर्णायक बहुमत हासिल किया।

सहकारी संघवाद का एक और उदाहरण प्रधानमंत्री द्वारा स्वतंत्रता दिवस के भाषण के दौरान की गई आयुष्मान भारत की घोषणा है, जिसे राष्ट्रीय स्वास्थ्य सुरक्षा मिशन (एबी-एनएचपीएम) या मोदीकेयर के रूप में भी जाना जाता है, जिसे 25 सितंबर, 2018 को प्रारंभ किया गया था। प्रधानमंत्री जन आरोग्य अभियान के तहत, 10 करोड़ परिवारों को प्रति वर्ष प्रति परिवार 5 लाख रुपये का स्वास्थ्य बीमा कवरेज मिलेगा। इस योजना का उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक जाति जनगणना के आधार पर 1 मिलियन से अधिक गरीब परिवारों या लगभग 50 मिलियन लोगों को कवर करना है, जो माध्यमिक और तृतीयक देखभाल अस्पताल में भर्ती होने के लिए कवरेज प्रदान करता है।

परन्तु, दिल्ली, पश्चिम बंगाल, पंजाब और ओडिशा जैसे गैर-बीजेपी शासित राज्यों ने इस योजना की आलोचना की, और इस पर चिंता व्यक्त की कि यह अपर्याप्त है। ये अपनी स्वयं की स्वास्थ्य बीमा योजनाओं को जारी रखना पसंद करते हैं, और मानते हैं कि उनकी योजनायें मोदीकेयर की तुलना में अधिक लोगों को कवर करेंगी। मोदीकेयर सम्बंधित केंद्र सरकार की अपेक्षा के बावजूद कि राज्य कुल निधि का 40% योगदान देंगे जबकि केंद्र 60% का सहयोग करता है, इन राज्यों का तर्क है कि वे अपनी स्वयं की स्वास्थ्य देखभाल योजनाओं पर लगभग उतनी ही राशि या उससे भी कम खर्च करेंगे और उनके कार्यान्वयन का पूरा श्रेय प्राप्त करेंगे। चूंकि स्वास्थ्य राज्य का विषय है, इसलिए यह मुद्दा भविष्य में और भी जटिल हो सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय संघवाद एक महत्त्वपूर्ण मोड़ पर खड़ा है, जहाँ प्रतिस्पर्धा और सहयोग की परस्पर क्रिया इसकी दिशा तय करेगी। वैश्वीकरण के दौर में राज्यों के बीच और केंद्र और राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा तेज हो गई है, लेकिन सुरक्षा, सामाजिक क्षेत्रों और विदेश-संबंधों जैसे विभिन्न क्षेत्रों में वैश्वीकरण द्वारा उत्पन्न चुनौतियों के कारण सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग बढ़ाना जरूरी हो गया है। ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज दोनों तरह से सहयोग, संघीय व्यवस्था की एक परिभाषित विशेषता है, और सुरक्षा संबंधी खतरों से निपटने में यह

विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

उदाहरण के लिए, केरल में हाल ही में आई बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं के लिए केंद्र और राज्य दोनों की ओर से समन्वित प्रयासों की आवश्यकता होती है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने केरल को उसके राहत प्रयासों में सहायता करने के लिए 500 करोड़ रुपये के अनुदान की घोषणा की, जिसके साथ गृह मंत्री राजनाथ सिंह ने 100 करोड़ रुपये की घोषणा की। इसके अतिरिक्त, दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने केरल के राहत कोष के लिए 100 करोड़ रुपये देने का वादा किया। यह वास्तविकता में ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज दोनों तरह के सहयोग को दर्शाता है।

क्षैतिज सहयोग का एक और उदाहरण देश के उत्तरी क्षेत्र में नशीली दवाओं के खतरे से सामूहिक रूप से निपटने के लिए पंचकूला में एक केंद्रीकृत सचिवालय की स्थापना है। छह राज्यों (हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और उत्तराखंड) और केंद्र शासित प्रदेश चंडीगढ़ द्वारा शुरू किए गए इस केंद्रीकृत सचिवालय में खुफिया जानकारी और सूचना साझा करने की सुविधा के लिए प्रत्येक राज्य से नोडल अधिकारियों की नियुक्ति शामिल है।

संक्षेप में, प्रतिस्पर्धा और सहयोग की द्वंद्वात्मकता भारतीय संघवाद की दिशा निर्धारित करेगी, तथा विभिन्न चुनौतियों का समाधान करने और राष्ट्र के सामूहिक कल्याण को आगे बढ़ाने के लिए सरकार के विभिन्न स्तरों पर प्रभावी सहयोग को बढ़ावा देना आवश्यक लगता है।

संवैधानिक मानदंडों, मूल्यों और नियमों के आधार पर अंतर-सरकारी संबंधों को बिना किसी देरी के बढ़ावा देना अनिवार्य है।

राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग और प्रतिस्पर्धा दोनों को प्राप्त करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है, जिसके लिए केंद्र और राज्य सरकारों दोनों की सामूहिक जिम्मेदारी की आवश्यकता है। जहाँ समृद्ध राज्य दोनों नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू कर सकते हैं, वहीँ आर्थिक रूप से पिछड़े राज्यों को अपने विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए केंद्र से सहायता की आवश्यकता होगी। पर्याप्त वित्तीय सहायता के साथ भी, हम साक्षरता के स्तर, कुशल कार्यबल की उपलब्धता और अन्य विकासात्मक आवश्यकताओं में भिन्नता के कारण सभी राज्यों में एक समान प्रदर्शन की आशा नहीं कर सकते। राज्यों के बीच निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा सुनिश्चित करने के लिए, एक समान व्यवहार का धरातल स्थापित करना आवश्यक है।

पंद्रहवें वित्त आयोग द्वारा जनसांख्यिकीय प्रबंधन, विकास असमानता, राज्य की जरूरतों और प्रदर्शन प्रोत्साहनों को संतुलित करते हुए संसाधनों का आवंटन इस दिशा में एक सकारात्मक कदम है। इसके अतिरिक्त, 74वें संविधान संशोधन का उसके वास्तविक अर्थ में पूर्ण कार्यान्वयन अनिवार्य है। इससे अधिक निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त होगी।

कोविड-19 महामारी ने यह महत्त्वपूर्ण सबक दिया है कि राष्ट्रीय आपात स्थितियों से निपटने के लिए अकेले व्यक्तिगत प्रयास अपर्याप्त हैं। यह भारतीय संघवाद के भीतर सहकारी भावना को सुदृढ़ और पुनर्जीवित करने की निरंतर आवश्यकता को उजागर करता है। साथ ही, प्रतिस्पर्धी भावना को बढ़ावा देने से ऐसी आकस्मिकताओं का सामना करने के लिए राष्ट्र की तैयारी सुनिश्चित होगी, क्योंकि यह राज्यों को नवाचार करने और आवश्यक लचीलापन बनाने के लिए प्रेरित करता है। प्रतिस्पर्धा और सहयोग के बीच संतुलन बनाने से भारत को 2047 तक एक विकसित अर्थव्यवस्था बनने की दिशा में आगे बढ़ने की क्षमता में अभिवृद्धि होगी।

संदर्भ-

1. भट्टाचार्य, हरिहर और लायन कोनिग, 2016, 'निष्कर्ष: भारत का दूसरा "भाग्य के साथ मिलन", हरिहर भट्टाचार्य और लायन कोनिग (संपादक), भारत में वैश्वीकरण और शासन: समाज और संस्थाओं के लिए नई चुनौतियाँ, लंदन और न्यूयॉर्क: रूटलेज।
2. कैबिनेट संकल्प, 1 जनवरी 2015. भारत का राजपत्र, पंजीकृत संख्या एल.-33004/99।
3. दुआ, बी.डी. और एम.पी. सिंह, 2003, नई सहस्राब्दी में भारत का संघवाद, दिल्ली: मनोहर प्रकाशन।
4. अमिताभ पांडे के साथ साक्षात्कार, 16 मार्च 2015.
5. जेनकिंस, रॉबर्ट, 1995, 'आर्थिक समायोजन की राजनीति का सिद्धांत: भारतीय मामले से सबक', द जर्नल ऑफ कॉमनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पॉलिटिक्स, खंड 33, संख्या 1, पृष्ठ 1-24.
6. नीति संक्षिप्त 1. www.niti.gov.in के माध्यम से उपलब्ध, अप्रैल 2015 को अभिगमित।
7. रूडोल्फ, लॉयड आई. और सुजैन होबर रूडोल्फ, 2001, 'संवैधानिक डिजाइन को फिर से तैयार करना: हस्तक्षेप करने वाले से नियामक राज्य तक', अतुल कोहली (संपादक), द सक्सेस ऑफ इंडियाज डेमोक्रेसी, कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. सेज, लॉरेंस. 2002. केंद्र के बिना संघवाद: भारत की संघीय प्रणाली पर राजनीतिक और आर्थिक सुधार का प्रभाव, नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशंस.
9. सिंह, एम.पी. और रेखा सक्सेना, 2013, वैश्वीकरण के युग में भारत का संघीयकरण, नई दिल्ली: प्राइमस बुक्स।
10. स्टाइल्टर, निको, 2020, मेल संचार, 24 मार्च 2020, सुबह 12:55 बजे.
11. स्वेनडेन, विलफ्रेड, 2014, लीवरहल्मे इंटरनेशनल रिसर्च नेटवर्क परियोजना के लिए अवधारणा नोट जिसका शीर्षक है 'भारतीय संघवाद में निरंतरता और परिवर्तन'।
12. स्वेनडेन, विलफ्रेड. 2019. 'टीम इंडिया और नीति आयोग', सेमिनार, अंक 717, मई 2019.
13. स्वेनडेन, विलफ्रेड और रेखा सक्सेना, 2017, 'केंद्रीय योजना पर पुनर्विचार: योजना आयोग की संघीय आलोचना', भारत समीक्षा: समकालीन भारतीय संघवाद में निरंतरता और परिवर्तन, खंड 16, संख्या 1, पृष्ठ 42-65।

भारतबोध पर पुस्तकें

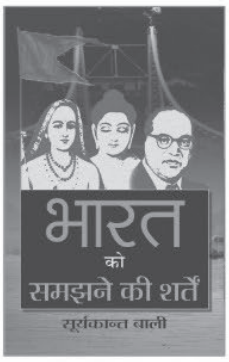

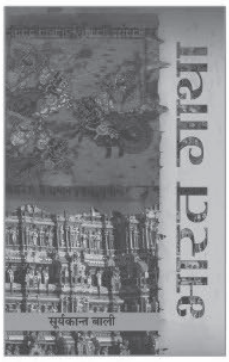

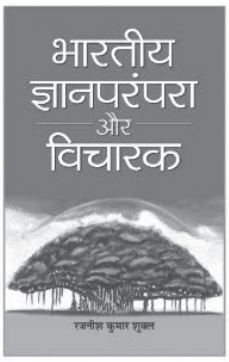

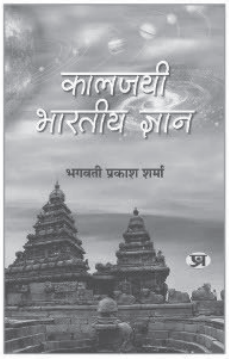

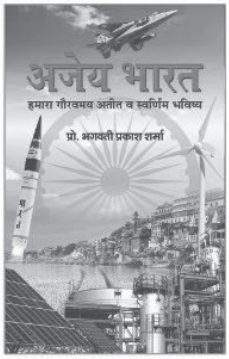

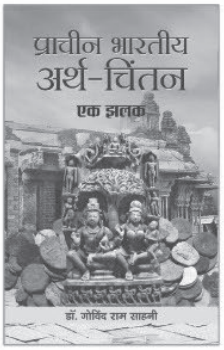

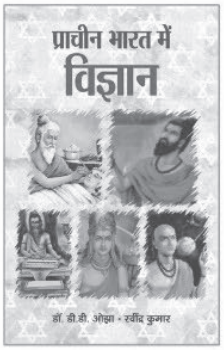

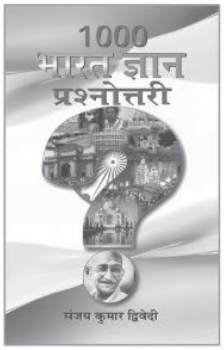

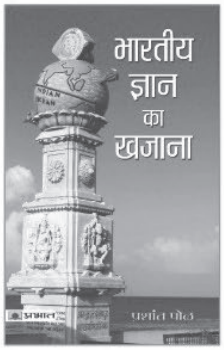

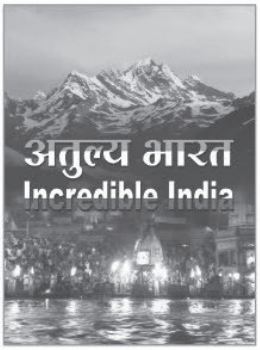

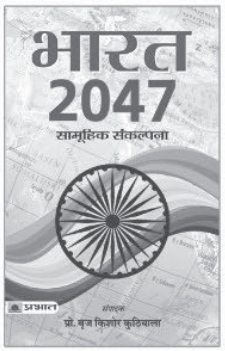

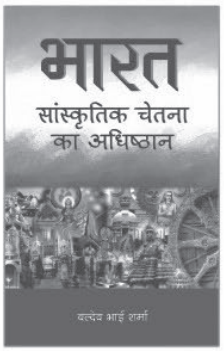

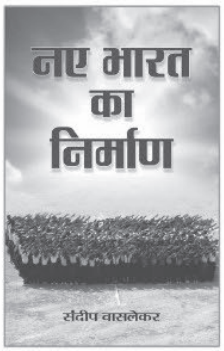

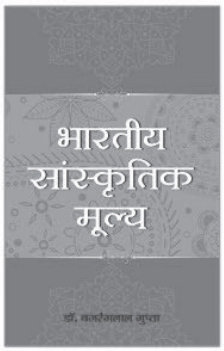

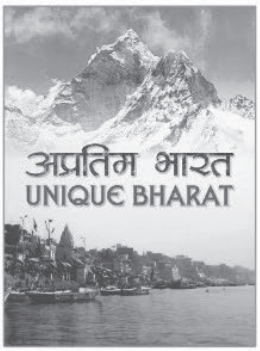

विस्तृत सूची-पत्र निःशुल्क पाने के लिए लिखें—

हेल्पलाइन नं. 7827007777

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2015 प्रकाशक

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23257555

E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✣ Website : www.prabhatbooks.com ✣ www.facebook.com/prabhatprakashan

''पंडित दीनदयाल उपाध्याय के विषय में जानकारियाँ बहुत ही सीमित हैं। डॉ. महेशचंद्र शर्मा ने इस विषय पर गवेषणात्मक अध्ययन किया है। इस शोध-ग्रंथ का प्रकाशन न केवल जनसंघ की राजनीति व विचारधारा के प्रति लोगों को लाभदायक जानकारियाँ देगा वरन् राजनीति शास्त्र की वैचारिक बहस को भी आगे बढ़ाएगा। दीनदयाल उपाध्याय व भारतीय जनसंघ को समझने के लिए यह शोध-ग्रंथ प्रामाणिक आधारभूमि प्रदान करता है।''

—डॉ. इकबाल नारायण

पूर्व कुलपति-राजस्थान विश्वविद्यालय,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा नॉर्थ-ईस्ट हिल्ज यूनिवर्सिटी,
पूर्व सदस्य-सचिव, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्

''यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जाएँ, तो मैं भारतीय राजनीति का नक्शा बदल दूँ।''

—डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी

पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा लिखित पुस्तकें

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com

ISBN 978-93-5186-262-8
₹ 500/-

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार

डॉ. महेशचंद्र शर्मा

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार
डॉ. महेशचंद्र शर्मा

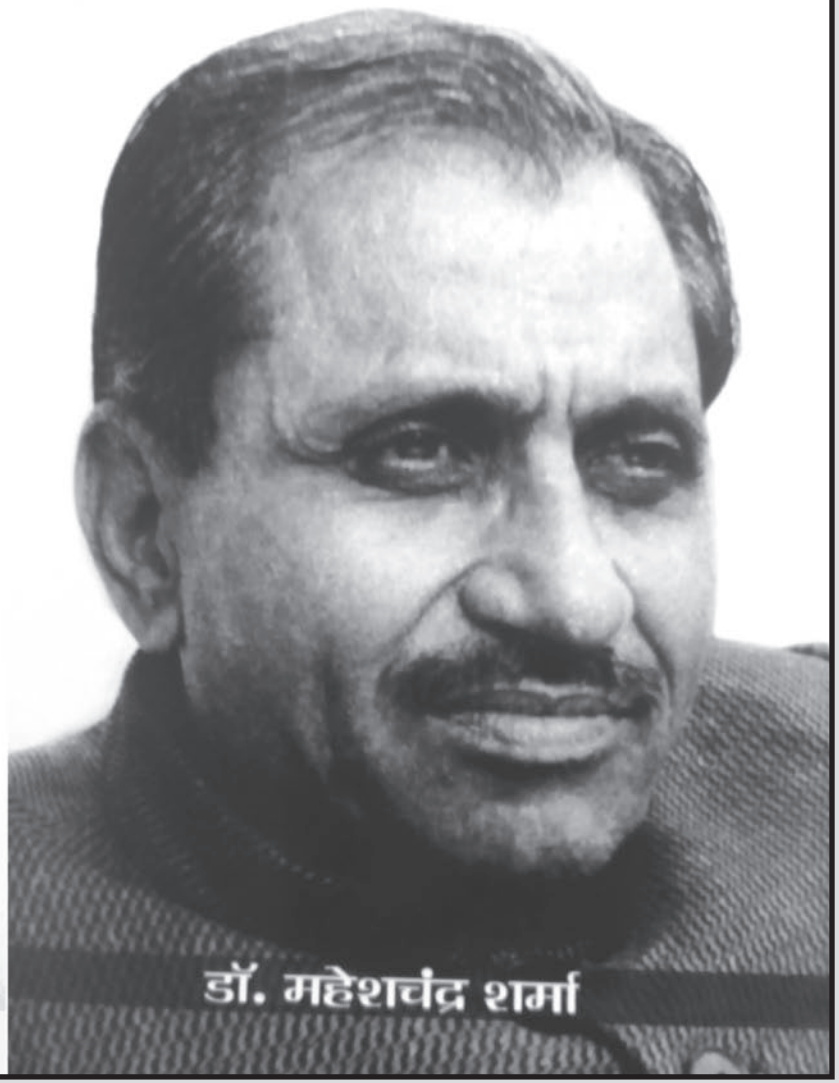

मनोज कुमार श्रीवास्तव

73वाँ संविधान संशोधन
विधायन और कार्यान्वयन

संविधान में किए गए 73वें संशोधन ने पंचायती व्यवस्था को नई स्फूर्ति तो दी, लेकिन क्या वह अपने उद्देश्य में सफल हो सका? ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ एक विश्लेषण

भारत के संवैधानिक फेडरलिज्म ने यदि क्षेत्रीय आकांक्षाएँ संतुष्ट की हैं तो पंचायतों ने और बारीक स्तर पर स्थानीय अभीप्साओं की पूर्ति की है। पंचायतों की उपस्थिति का बड़ा लाभ शासन और विकास की प्राथमिकताओं के संदर्भीकरण में है। यह आजादी के बाद साठ-सत्तर के दशकों की पंचायतों से भी संभव नहीं हो सका था और जैसा कि भवानी सेन गुप्ता[1] ने कहा, एक अस्तित्वहीन ग्रामीण प्रजातंत्र के दंतहीन प्रतीकों का संजाल (Network of toothless symbols of a non-existent rural democracy) बन कर रह गई थी। 73वें संविधान संशोधन को श्रेय दिया जाना चाहिए और उसके बाद राज्य शासन के संकल्प को भी कि उन्होंने पंचायती व्यवस्था को ऐसा नवजीवन और नवस्फूर्ति प्रदान की कि वे प्राथमिकताओं को स्थानीय चेहरा दे सके। दुर्भाग्य से भारत के संप्रभु वर्ग में उसके बाद भी उस भारतीयता के प्रति कोई आदर या समझ नहीं थी जो बहुत तरह के देसीपन का समग्र है। एक तरफ स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट के लिए उतावले लोग थे जो विभिन्न अंतरराष्ट्रीय फोरमों पर ऐसे आदर्शवाक्य बोला करते हैं: "आप पहले हमें देखने आए थे तो दो सौ साल रूक गए। अब दो सौ साल रूकने के इरादे से आइए" या "हम एक पारंपरिक समाज हैं जो आधुनिक बनने के लिए संघर्षरत है।" अपने देश की परंपराओं के लिए माफी सी माँगते ये लोग ग्लोबलाइजेशन के महामंत्र को मुक्ति-मंत्र मानते थे। एक वैश्विक, पहचान-विरूपता (defacement) की चुनौती भारतीयता के लिए कहाँ-कहाँ उपस्थित कर रही है, इसके बारीक डिटेल्स देखने का न तो धैर्य इनके पास था और न ही दृष्टिकोण। कम्प्यूटर, माइक्रोचिप्स, साइबरनेटिक्स, विंडोज, मल्टी चौनल, फारेक्स मार्केट, पूर्ण परिवर्तनीयता, कोजेंट्रिक्स के आगे इनके लिए पंचायती स्थानीयता के मायने क्या थे? दूसरी ओर वे थे जिन्हें मिली-जुली सरकार में आरवेलियन डबलस्पीक[2] के अभिनय में कीर्तिमान भले ही स्थापित करने पड़े हों लेकिन मार्क्स और माओ में उनकी लफ्फाज आस्था अभी भी जिंदा रही थी। तीसरी ओर वे जिन्हें भारतीय परपंरा एक शोषक यंत्र लगती थी और इसलिए अब वे उस सबके प्रति तिरस्कार के एक तीव्र भाव से भरे रहे, जो बीत चुका है। पर अन्याय खत्म करने में उनकी रुचि नहीं है, उनकी रुचि तो बस अन्याय की दिशा और धुरी बदलने में थी। इनके प्रयत्नों से बस इतना होता था कि वेणु या नंद[3] की ही कोई अनुकृति स्थापित होती थी।

इसलिए 73वें संशोधन से समस्या हल न हो सकी। विकेंद्रीकरण भ्रष्टाचार को खत्म न कर सका। शासकीय धनराशि बर्फ का सिक्का है। जितने हाथों से गुजरता है, उतना ही गलता जाता है। कभी कभी तो एक रुपये से शुरू होकर पंद्रह पैसे मात्र में अवशिष्ट रह जाता है। पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की पंचायती राज से यह उम्मीद थी कि वह सत्ता के दलालों का भ्रष्टाचार खत्म करेगा। पर शायद हर बात उस उम्मीद के मुताबिक नहीं हुई। भ्रष्टाचार खत्म नहीं हुआ सिर्फ विकेंद्रित हो गया था। पहले शीर्ष के साधु-स्वामियों की दलाली बहुत दूर पड़ती थी, फिर उनके छोटे-छोटे संस्करणों की कुकुरमुत्ता फौज पनप गई जिसने भ्रष्टाचार के प्रति भारतीय जनमानस को अधिक सहिष्णु भी बनाया। फिर भ्रष्टाचार दूरबीन से नहीं देखा जाता था, वह हमारा पड़ोसी हो गया। धीरे-धीरे भारत भी उस सद्गति को प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच गया जहाँ भ्रष्टाचार को 'शिक्षित करने'[4] पर हुए व्यय

की संज्ञा दी जाती, जैसे अभी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देती रही हैं। इसे रोकने के लिए जो थोड़ा-बहुत आधिकारिक नियंत्रण था, वह भी देश में संभवत: समाप्त कर दिया गया। जिस तरह से औद्योगिक पूँजीवादी सभ्यता व्यक्ति को दैत्याकार मशीनरी के एक तुच्छ कलपुर्जे में अपघटित करती है, उसी तरह से आजकल के विकृत ग्रामीण समाज की ग्राम सभाओं में बहुमत एक अभियांत्रिक चुनौती बन गया है, एक सामाजिक चुनौती नहीं। यहाँ संख्या बल को मैनीपुलेट करने की इंजीनियरिंग दक्षता देखनी थी तो उसका प्रमाण श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' था, न कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन का 'जय यौधेय'[5] वाला ग्राम गणतंत्र या आचार्य चतुरसेन का 'वैशाली की नगर वधू'[6] वाला ग्राम गणतंत्र।

इसलिए पिछले एक दशक का महत्त्व इस बात में है कि 73वें संशोधन के बाद जो एक पारदर्शिता आवश्यक थी, राशि का सीधे पंचायत और हितग्राही के खाते में जमा होने से वह संभव हो पाई है। पंचायती राज तक टेक्नोलॉजी के पहुँचने ने उसकी बहुत सी अपर्याप्तताओं का निराकरण किया है अन्यथा एक समय यह स्थिति थी कि पंचायतें हमारी व्यवस्था का कृष्ण-विवर मानी जाती थीं जहाँ राशि जाती तो थी पर उसके उपयोग के विवरण तक पता नहीं चलते थे।

अब हम यदि ग्रामीण पुनर्जन्म की बात कर रहे हैं तो हमें पता तो होना चाहिए कि पूर्व जन्म क्या था? क्या भारत का कोई आत्म था? क्या गाँव भारत के इस आत्म का कोई अंश थे? क्या भारत की सृजन प्रतिभा का कोई अन्वेषण गाँवों की वीथी से गुजरे बिना संभव है? कभी विनोबा ने भारत के इतिहास को चार दौर में बाँटा था : प्राचीन भारत जब देश भी स्वाधीन था, गाँव भी, मध्यकालीन भारत जब देश पराधीन था, गाँव स्वतंत्र, अंग्रेजों के समय का भारत जब देश और गाँव दोनों पराधीन थे और आज का भारत जब देश आजाद है, लेकिन गाँव पराधीन हैं।[7]

गाँव की पराधीनता से विनोबा का क्या आशय था? आप भारत में यदि किसी तरह का रूरल रेनेसांचाहते हैं तो भारत के इन चार पूर्वजन्मों में से किसका पुनर्जन्म चाहेंगे?

विनोबा गाँवों के किस आत्मनिर्णय और स्वायत्तता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते थे? कर्नल थामस मुनरो ने यह पाया था कि प्रत्येक गाँव एक तरह का रिपब्लिक है और भारत ऐसे गणतंत्रों की संघति है।[8] मेटकाफ ने लिखा था : कि ये ग्राम समुदाय लघु जनतंत्र हैं। उनके पास वह सब कुछ है जो वे चाह सकते हैं और वे किन्हीं बाहरी रिश्तों से लगभग पूर्णत: स्वतंत्र हैं। वे टिके हैं जबकि कुछ अन्य नहीं टिकता। कर्नल टॉड ने भी पारंपरिक हिंदू कानून का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू स्वशासन माना था। छोटे गणतंत्र के रूप में ये गाँव इंपीरियो इंपीरियम[9] थे।

अब यदि हम आज गाँवों को देखें तो क्या उनसे स्वतंत्रता की वह सुगंध आती है? रूरल रेनेसाँ के लिए सिर्फ विकास ही काफी है या स्थानीय स्वशासन भी जरूरी है? स्थानीय सरकार की अपनी हैसियत भूलकर सिर्फ ऊपर से आने वाली विकास राशि को प्रयुक्त कर देने से क्या यह रेनेसाँ संभव होगा? क्या हमारे पंचायतों की अवधारणा स्वशासन के एक संस्थान के रूप में की गई थी या फिर ऊपर से योजनाएँ थोपकर उनका केवल उन योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए माध्यम के रूप में उपयोग किया गया?

यानी 'विकास' की पूँजी ने 'जमीनी सत्ता का स्तर' बनने की स्वप्नशीलता का गला घोंट दिया। स्वशासन की बुनियादी भूख को प्रत्यायोजित पैसे के कोरामिन[10] से संतुष्ट किया जा रहा है। और सुविधा का यह जो संतुलन स्थापित हुआ है, उसमें सरपंच को यह सुहाता है कि उसे शासन का उत्तरदायित्व निभाने की जद्दोजहद की बजाय एक निर्माण विभाग की तरह बरता जा रहा है। किसी स्तर पर ऊपरी राजनैतिक शक्तियों को भी याचना की पंचायती मुद्रा एक मनोवैज्ञानिक संतुष्टि देती है। तब रूरल पुनर्जन्म कैसे होगा? यह ध्यान रखें कि ग्राम स्वशासन भारत में घटा एक व्यतीत है। वह न यूटोपिया है, न नॉस्टेल्जिक रोमांटिसिज्म। अभी 1961 में धर्मपाल[11] ने देखा था कि राजस्थान के सवाई माधोपुर जिले में सरकारी पंचायतों के समानांतर बीस बिस्वा पंचायतें थीं। अभी कुछ दशकों पहले तक जगन्नाथपुरी के आसपास ही पहले 52 शासन गाँव थे जहाँ जमीन में सभी प्रकार का साझा स्वामित्व था। कभी ये समुदायम् गांव, देसम गांव, ये तारा गांव, चतुर्वेदिमंगलम् ग्राम, ये पेरूपुरी गांव भारत में हो चुके हैं।[12] इसलिए यदि हम किसी ग्रामीण पुनर्नवन की बात करते हैं तो वह किसी तरह की भावुकतावादी वाचालता नहीं है। पहचानिए उन संरचनाओं को जिन्होंने ग्राम जीवन की उद्यमिता भावना को दबाया हुआ है और उन दमनकारी व्यवस्थाओं को हटाइए। यह 'आत्मनिर्भर भारत' के मंत्र का समय है। यह मंत्र 'आत्मनिर्भर गांव' में भी रूपांतरित होता है।

ग्राम जिस तरह से जिस हद तक राज्य पर आश्रित हैं, उस हद तक वे अपने स्वायत्त चरित्र का परिचय नहीं दे रहे। वहाँ पिरामिड का शीर्ष ही आधार को सँभाले हुए है। अनुदान और प्रत्यायोजन अंतत: केंद्र या राज्य शासन की उदारताएँ हैं। वे प्रतीक्षा और प्रत्याशा के मनोविज्ञान को सघन करते हैं और प्रतीक्षा में कहीं स्वयं का स्थगन भी है। ग्रामवासी क्या विकास के बस दर्शक हैं

इसलिए पिछले एक दशक का महत्त्व इस बात में है कि 73वें संशोधन के बाद जो एक पारदर्शिता आवश्यक थी, राशि का सीधे पंचायत और हितग्राही के खाते में जमा होने से वह संभव हो पाई है। पंचायती राज तक टेक्नोलॉजी के पहुँचने ने उसकी बहुत सी अपर्याप्तताओं का निराकरण किया है अन्यथा एक समय यह स्थिति थी कि पंचायतें हमारी व्यवस्था का कृष्ण-विवर मानी जाती थीं जहाँ राशि जाती तो थी पर उसके उपयोग के विवरण तक पता नहीं चलते थे

या हितग्राही भर? क्या वे स्वयं विकास के कर्ता नहीं हैं?

यह संविधान के अनुच्छेद 243 जी (अ) और (4) में पंचायतों के जितने भी कार्य बताए गए हैं, वे सभी विकास मूलक हैं। स्वशासन मूलक है ही नहीं। आजादी के अमृत वर्ष में हमें याद आना चाहिए कि महात्मा गाँधी ने आजादी को 'स्वराज' के रूप में परिभाषित किया था। स्वशासन की यह तृणमूल इकाई मात्र करारोपण तक नहीं करती, कर वसूली से भी डरती है। विकास स्थानीय पूँजी, प्रेरणा और प्रतिभा के संकलन से हो तब तो यह स्वराजी विकास होगा। यदि ग्रामीण रेनेसाँ का लक्ष्य है तो विकास की आयातित परिभाषा और प्रवृत्तियों और प्रविधियों के जरिए न हो पाएगा। विकास के वर्तमान मानक पाश्चात्य और भौतिक हैं। इन्होंने दो तिहाई विश्व को अविकसित, अल्प-विकसित, निरक्षर, तकनीकी रूप से पिछड़े अज्ञानी लोगों की समस्या के रूप में; आत्महीनता, आत्मसंदेह और ग्लानि-ग्रंथि से ग्रस्त विश्व के रूप में अपघटित कर दिया है। यहाँ जनता हितग्राही है, लक्ष्य-पूर्ति के खंडित और विभाजित खाँचों में विकास है। आरोपित लक्ष्यों का जुआ अपने कांधों पर लेकर चलना है। कोई भी ग्राम समाज स्वयं को समस्या मानकर बहुत देर तक नहीं चल सकता। पर एडुआर्डो गेलिनो[13] ने जो बात लेटिन अमेरिका के गाँवों के लिए कही थी, वही हमारे गाँवों के लिए भी सच है कि "पहले वे आपको लकवे के लिए प्रशिक्षित करते हैं, फिर वे अपनी बैसाखियाँ बेचते हैं।" मसलन साक्षरता इतनी महत्त्वपूर्ण बता दी जाती है कि गाँव के द्वारा शताब्दियों से पालित - पोषित वाचिकता (ओरेसी) किसी गिनती में नहीं रहती। जबकि भारतीय परंपरा में सरस्वती का पर्याय वाणी है, लेखनी नहीं है।

संविधान के 73वें संशोधन का उद्देश्य क्या था? विकेंद्रीकरण या प्रत्यायोजन? वह विधायन तो एक महत उद्देश्य से प्रेरित था। पर क्रियान्वयन के प्रकरण से तो ऐसा लगा कि हम भी यह मान रहे हैं कि विकेंद्रीकरण प्रत्यायोजन का विस्तार (एक्सटेंशन) ही है? उसका विकसित (एडवांस्ड) रूप है? क्या दोनों के बीच बस डिग्री का फर्क है, चरित्र का नहीं। शायद यहीं कुछ गड़बड़ी है जो विभागों को प्रत्यायोजन के लिए इतना उत्सुक बनाता है। लेकिन डेलीगेशन एक तरह की लोड-शेडिंग है, भारार्पण है जबकि पंचायती राज विधायन का लक्ष्य तो ग्रास रूट स्तर को इतना मजबूत बनाना है कि वह अपने संसाधनों को एकत्र और केंद्रित कर सके। प्रत्यायोजन वरिष्ठ स्तर पर उपलब्ध संसाधनों का अभिदाय है, लेकिन विकेंद्रीकरण स्थानीय ऊर्जाओं का स्फुरण और संचयन है। पंचायती राज के अभी तक के अनुभव से यह स्थिति उभरी ही है कि ग्राम पंचायतें ऊपर से आती हुई भिक्षा के लिए ही कटोरे लिए खड़ी हैं। दरअसल पुराने दौर ने जिस सब्सिडी मानसिकता का प्रसार किया, ग्राम पंचायतों की यह अनुदान-निर्भरता उसी की समूहगत अभिव्यक्ति है। वित्त आयोग ने भी प्रति पंचायत एक निश्चित धनराशि देने का ही सुझाव दिया है। लेकिन पंचायती राज की वास्तविक असफलता यह है कि कराधान की शक्ति का उपयोग करने की उत्सुकता अधिकतर ग्राम पंचायतों में नहीं दिखाई देती। धर्मपाल ने अपनी पुस्तकों 'द ब्यूटीफूल ट्री' व अंग्रेजों से पहले का 'भारत' में बार बार यह सिद्ध किया है कि किस तरह पुरानी पंचायतें स्थानीय संसाधनों के दोहन से प्राचीन भारत में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन करती थीं। पर आज आसान यह है कि मनरेगा की प्रथम या द्वितीय या अगली किश्त का इंतजार किया जाए। पंचायती राज का विधायन निर्भरता की संस्कृति विकसित करने के लिए नहीं है, यह तो स्थानीय पहल, प्रतिभा और प्रेरणाओं को एक रचनात्मक अवकाश उपलब्ध कराने के लिए है।

संविधान के 73वें संशोधन का उद्देश्य क्या था? विकेंद्रीकरण या प्रत्यायोजन? वह विधायन तो एक महत उद्देश्य से प्रेरित था। पर क्रियान्वयन के प्रकरण से तो ऐसा लगा कि हम भी यह मान रहे हैं कि विकेंद्रीकरण प्रत्यायोजन का विस्तार ही है? उसका विकसित रूप है? क्या दोनों के बीच बस डिग्री का फर्क है, चरित्र का नहीं। शायद यहीं कुछ गड़बड़ी है जो विभागों को प्रत्यायोजन के लिए इतना उत्सुक बनाता है। लेकिन डेलीगेशन एक तरह की लोड-शेडिंग है, भारार्पण है जबकि पंचायती राज विधायन का लक्ष्य तो ग्रास रूट स्तर को इतना मजबूत बनाना है कि वह अपने संसाधनों को एकत्र और केंद्रित कर सके

अंततः पंचायती राज 'रिट्रीट ऑफ द स्टेट' (राज्य की वापसी) का ही एक लक्षण है मनमोहन सिंह जी के 'आर्थिक उदारवाद' और 'प्राइवेटाइजेशन' के ही समकक्ष। वह संसाधनों के अभाव से पीड़ित राज्य के लिए एक औषधि या उपचार है। लेकिन यदि उसकी परिणति यह हो कि राज्य अपने संसाधन ग्राम पंचायतों को सौंप रहा है बिना उनसे नए संसाधनों के पैदा होने की अपेक्षा किए तो औषधि रोग से भी ज्यादा खतरनाक हो जाएगी क्योंकि इस नए ढाँचे में जहाँ संसाधनों और अधिकारों का विकेंद्रीकरण है, वहाँ जिम्मेदारी और जवाबदेही का विकेंद्रीकरण नहीं हुआ है। उसके लिए तो बस ग्रामसभा का 'सोशल आडिट' है। एक ऐसे समय पंचायती राज संस्थाएँ शोषणमूलक ग्रामीण सत्ता-संरचना का प्रतिबिंब हों, प्रतिकल्प नहीं, ग्रामसभाओं में भी संप्रभु वर्गों के आतंक के आगे मौन छाया रहता है।

तब राज्य अपने सीमित संसाधनों को बेपरवाह लुटाता हुआ प्रतीत होता है। जिस तरह से उदारीकरण और निजीकरण की नीति के शुरुआती दौर में यह दुर्घटना घटी कि सार्वजनिक उपक्रमों की संपत्तियाँ, शेयर और अधिष्ठापनाएँ लोग सस्ते में ले उड़े, राज्य की वापसी के इस चेहरे में यह आरंभिक चरण में हुआ ही हुआ कि पंचायतों ने मुरमीकरण[14] में वह पैसा लुटा डाला जिससे स्थाई परिसंपत्तियों का सृजन

हो सकता था। जिम्मेदारी का आत्म-संयम नदारद रहा। पीटर बाइल्स ने एक निहायत दूसरे संदर्भ में जिसे सांस्थानिक मनमर्जी कहा वह इस शुरुआती समय में स्पष्ट दीख पड़ा।

73वें संविधान संशोधन ने मुख्यत: एक त्रिस्तरीय व्यवस्था रची थी। किंतु उसमें यह भी था कि प्रशासनिक विकेंद्रीकरण की दृष्टि से प्रत्येक पंचायत अपने आप में एक प्रशासकीय इकाई है। सेन कमेटी[15] ने इसमें गैर-पद क्रम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। स्थानीय स्वशासन का हर स्तर एक स्वशासित निकाय है, तीन स्तर कोई पदानुक्रमिक रूप में नियोजित नहीं हैं। समन्वयन, पूरकत्व और एकीकरण को बार-बार के परामर्श के जरिये प्राप्त किया जाता है। जब क्रियान्वयन का वक्त आया तो गाँधी जी के समकेंद्रिक वृत्तों के सिद्धांत से थोड़ी छूट ले ही ली गई है। 'उच्च स्तर की पंचायत के मुख्य कार्यपालन अधिकारी का निचली स्तर की पंचायतों के प्रशासकीय अमले पर प्रशासकीय नियंत्रण रखा जाने लगा। ग्राम पंचायतों द्वारा नियुक्त पंचायतकर्मियों को जनपद पंचायत के मुख्य कार्यपालन अधिकारी के प्रति प्रशासनिक तौर पर उत्तरदायी बनाया गया। नगरीय क्षेत्रों में मान लीजिए यही संबंध नगर निगम आयुक्त के नगरपालिका के और नगर पंचायतों के सी.एम.ओ. के बीच रहें तो कितना अटपटा लगेगा।

त्रिस्तरीय पंचायतराज संस्थाओं के अंतर्संबंध की जो कल्पना पदेन सदस्यता के गल्प (फिक्शन) के माध्यम से की गई है, उसकी वैधानिकता और वैधता दोनों संदिग्ध लगती हैं। प्रश्न यह है कि सदस्यता प्रशासकीय शक्ति नहीं है, यह राजनैतिक निर्वाचन से उपलब्ध हुई विशिष्ट प्रतिनिधित्व की गुणात्मक शक्ति है। यदि निर्वाचन किसी एक निगमित निकाय के लिए हुआ है तो दूसरे निगमित निकाय का सदस्य कैसे हुआ जा सकता है। क्या विधानसभा का कोई सदस्य पदेन है सियत में लोकसभा का सदस्य भी हो सकता है?

ऐसा ही कुछ विधायक के द्वारा नामांकित प्रतिनिधियों के साथ है। निगमित निकाय कोई प्रशासकीय समिति नहीं होते कि जिसमें नामांकन चलता हो और यदि नामांकन विधायिकी शक्तियों से नि:शेष दर्शक दीर्घा के सक्रिय सदस्य के रूप में है तो वह व्यर्थ है, बेमतलब है। वस्तुत: पंचायतों के तीनों स्तरों के लिए एक ही पंचायती राज अधिनियम होने से इनके अंतर्संबंधों में यह संभ्रम है। इसकी तुलना में बांग्लादेश में तीनों स्तरों पर तीन अलग-अलग अधिनियम हैं। सबसे निचली इकाई यूनियन परिषद है, फिर उसके उपर 1982 के स्थानीय शासन (उप जिला परिषद और उप जिला प्रशासनिक पुनर्गठन) अध्यादेश से आई हुई उप जिला परिषदें हैं, फिर 1988 के स्थानीय शासन (जिला परिषद) अधिनियम से गठित जिला परिषदें हैं। वहाँ उप जिला परिषदों में सिर्फ अध्यक्ष ही मतदान से सीधे निर्वाचित होता है और शेष सदस्य या तो यूनियन परिषद के अध्यक्ष के रूप में पदेन सदस्य होते हैं या उप जिला प्रशासन के नामांकित और सरकारी सदस्य।

73वें संविधान संशोधन ने मुख्यत: एक त्रिस्तरीय व्यवस्था रची थी। किंतु उसमें यह भी था कि प्रशासनिक विकेंद्रीकरण की दृष्टि से प्रत्येक पंचायत अपने आप में एक प्रशासकीय इकाई है। सेन कमेटी ने इसमें गैर-पद क्रम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। स्थानीय स्वशासन का हर स्तर एक स्वशासित निकाय है, तीन स्तर कोई पदानुक्रमिक रूप में नियोजित नहीं हैं। समन्वयन, पूरकत्व और एकीकरण को बार-बार के परामर्श के जरिये प्राप्त किया जाता है। जब क्रियान्वयन का वक्त आया तो गाँधी जी के समकेंद्रिक वृत्तों के सिद्धांत से थोड़ी छूट ले ही ली गई है

दरअसल इस संपूर्ण व्यवस्था की कटिंग एज तो ग्राम पंचायत ही है। लेकिन तदर्थता सबसे अधिक वहीं है। यदि नगरीय क्षेत्र में कर इकट्ठा करना हो या अतिक्रमण हटाना हो तो यह कार्य नगर निगम आयुक्त/मुख्य नगरपालिका अधिकारी और उसकी टीम करती है लेकिन यही काम ग्रामीण क्षेत्र में करना हो तो निर्वाचित सरपंच, पंच करें। लेकिन कर/अतिक्रमण जैसे 'अप्रिय' काम करने में उन्हें प्रकृति और संकल्प की परेशानी तो है ही, प्रशिक्षण, संसाधन और उन्मुखीकरण की भी परेशानी है। ऐसे काम स्थानीय पंचायत सचिव के बस के भी नहीं है। इस स्तर पर एक सुप्रशिक्षित, रिसोर्सफुल ग्राम पंचायत स्टॉफ की आवश्यकता है। इस एक अकेले पंचायत सचिव को 67 किस्म के काम करने होते है। कामों की फेहरिस्त बहुत तगड़ी है लेकिन पंचायत सचिव उतना सशक्तीकृत नहीं।

पंचायतों के आकार पर भी पुनर्विचार की आवश्यकता है। किसी राज्य में बहुत छोटी ग्राम पंचायतें हैं। किसी में बड़ी। केरल की ग्राम पंचायत का एक वार्ड एक औसत भारतीय गाँव से भी बड़ा होता है। जब भी पंचायतों के आकार पर पुनर्विचार होगा, ये पंचायतें एकीकरण या विलय की प्रक्रिया से गुजरेंगी। एक समय जापान में 10,000 स्थानीय स्वशासन इकाइयां थीं, फिर युक्तियुक्तकरण की प्रक्रिया के बाद वे घटकर 3,284 रह गईं। युगोस्लाविया में 1952-1970 के दो दशको में स्थानीय स्वशासन इकाइयाँ 5000 से घटकर 400 रह गई थी।

ग्रामसभाओं के रूप में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की सफलता के लिए जरूरी है आम जनता तक प्रशासकीय ज्ञान के अवशोषण की शक्ति को विकसित करना जानने के अधिकार के पहले कहीं आवश्यक है, यह ज्ञान कि जानने योग्य क्या है? उत्तर की अपेक्षा से पहले यह जानना जरूरी है कि प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न क्या है? पारदर्शिता अच्छी चीज है, लेकिन उसी के लिए जो देखने में समर्थ हो।

दूसरे, ग्रामसभाओं में बैठने पर यदि बिना किसी अवरोध या हस्तक्षेप के देखें तो पाएँगे कि कार्य व्यापार, विनियम प्राय: हो ही नहीं

पाता। अपूर्ण सी बैठक होती है, जिसमें दलितों, खासकर स्त्रियों की भागीदारी होती ही नहीं। उन जगहों पर भी नहीं जहाँ आरक्षण ने इन वर्गों का प्रतिनिधित्व दिया है। दलित 'कानून पंचायतों' में नहीं बोल सके तो क्या वह अपनी 'जात पंचायतों' में बोल लेता है, लेकिन स्त्री कहीं भी न बोल पाती है, न निर्णायक स्थिति में है। तीसरे ग्रामसभाओं को कई बार 'सर्कलेटरी' तरीके से भी निपटाया जाता है, जब एक रजिस्टर घर-घर घूम जाता है। कभी-कभी तो वह एकदम जड़ और अप्रगतिशील रूप में एक ही घर में अंगूठों की भिन्न-भिन्न छापों या हस्ताक्षरों से तैयार हो जाता है। चौथे, ग्रामसभा में कोरम पूरा करने के लिए 'आना हो तो आओ जाएँगे नहीं' का वातावरण चलता है। पाँचवें, वैदिककालीन सभा असहमति की स्थिति में मतपत्र मत विभाजन करवाती थी, लेकिन आधुनिक ग्राम में समस्त विषय उपस्थिति सदस्यों के बहुमत से विनिश्चित किए जाएँगे और मतदान हाथ उठाकर किया जाएगा। 'जय उठाकर किया जाएगा।' हालाँकि ग्राम सभाओं में कई बार इस हाथ उठाने के खतरे हैं। छठवें ग्रामसभा पंचायत अधिनियम की धारा 6(6) के अनुसार 'ग्राम पंचायत के कृत्यों से संबंधित किसी विषय पर विचार' तो करती है, लेकिन इसी के कारण ग्राम सभा को 'सोशल ऑडिट' का जो काम करना होता है वह नहीं हो पाता। पंचायती राज में सोशल ऑडिट को इस अर्थ में लिया जाता है, वह शायद यह है कि ग्राम पंचायतें जो कुछ करें न करें, उसे ग्रामसभा के द्वारा मिलने वाली स्वीकृति या स्वीकृति दिया जाना, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में सोशल आडिट का अर्थ होता है सामाजिक आवश्यकताओं और अधिशेषों का आकलन कर उसके आधार पर किए गए कार्यों का मूल्यांकन। इस कारण हमारी ग्रामसभाओं में सोशल ऑडिट एक विकृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। विकृति दो तरह की है। एक ग्राम पंचायत की ही क्रिया-अक्रिया के आब्सेशन में है। दूसरे वास्तविक वित्तीय ऑडिट के भय से मुक्त होकर मैनीपुलेट किए जा सकने वाले सामाजिक ऑडिट के रूप में अमूर्त दुनिया के लाभ दिलाने में है। यदि सोशल ऑडिट को उसके अमेरिकी अर्थो में ही लें तो तब सोशल ऑडिट एक तरह की सर्वानुमति पैदा करेगा। आज ग्रामसभाओं में या तो सरपंच की खिंचाई होती है या उसके प्रति सामंती समर्पण होता है, लेकिन व्यक्ति की जगह 'विषय' पर केंद्रण होना ज्यादा आवश्यक है। फिर सोशल ऑडिट यदि सामाजिक वास्तविकताओं, कड़वाहटों, दलितों और स्त्रियों की स्थिति के रूपांतरण में पंचायत की 'चेंज एजेंट' के रूप में भूमिका की पड़ताल नहीं करता तो फिर वह 'सोशल' कैसे कहा जा सकता है।

पंचायतें स्थानीय स्वाशासन की यूनिट है तो उनका एक महत्त्वपूर्ण परफार्मेंस - पैरामीटर यह है कि उन्होंने अपने कितने संसाधन विभिन्न लोक-व्ययों के लिए जुटाए। दान धनराशि के रूप सामग्री के रूप में, श्रमदान के रूप में, अनुभव के रूप में, स्थानीय तकनीक के रूप में, कराधान रूप में। क्या पंचायते स्वयं-सहायता समूहों की तरह हो सकती है? क्या वे ईक्वेडोर[16] के प्रतिवेशी समूहों की तरह हो सकती है? क्या वे संयुक्त राज्य अमेरिका के सामुदायिक सेक्टर की तरह हो सकती है?

दरअसल अभी राज्य सरकारों की आलोचना का एक बड़ा बिंदु यह रहा है कि उसने पंचायतों को पर्याप्त अनुदान नहीं दिया है। लेकिन सच तो यह है कि पंचायतों ने अभी तक जो भी किया है वह सिर्फ शासकीय अनुदान के सहारे ही किया हैं। उनकी असफलता यह नहीं है कि उन्होंने जो उपर से प्राप्त किया, वह कम था। इसमें है कि वे अपने नीचे कुछ जुटाने में एकांत रूप से असमर्थ प्रमाणित हुई। जिस हद तक उनकी यह निर्भरता रहेगी, उस हद तक उसमें अपने नियंत्रण-केंद्र के प्रति कुंठा रहेगी। ग्राम स्वराज की गांधीवादी धारणा के यह ठीक विरोध में पड़ता है

दरअसल अभी राज्य सरकारों की आलोचना का एक बड़ा बिंदु यह रहा है कि उसने पंचायतों को पर्याप्त अनुदान नहीं दिया है। लेकिन सच तो यह है कि पंचायतों ने अभी तक जो भी किया है वह सिर्फ शासकीय अनुदान के सहारे ही किया हैं। उनकी असफलता यह नहीं है कि उन्होंने जो उपर से प्राप्त किया, वह कम था। इसमें है कि वे अपने नीचे कुछ जुटाने में एकांत रूप से असमर्थ प्रमाणित हुई। जिस हद तक उनकी यह निर्भरता रहेगी, उस हद तक उसमें अपने नियंत्रण-केंद्र के प्रति कुंठा रहेगी। ग्राम स्वराज की गांधीवादी धारणा के यह ठीक विरोध में पड़ता है। ग्राम स्वराज की परिभाषा करते हुए गांधी ने कहा था:[17]

इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव स्वतंत्र और अपने आप में आत्मसंपन्न था। हर गाँव आत्मनिर्भर था और स्वशासित था। वह अपने मामलों को स्वयं निपटा सकता था। यहाँ तक कि पर्यावरण में किसी असंतुलन की स्थिति में भी स्वयं निपट सकता था।

लेकिन अभी जिस हद तक वे राज्य पर आश्रित हैं, उस हद तक वे राज्य का ही एक्सटेंशन लगती हैं। उनका कोई स्वायत चरित्र नहीं है। वे पावर-पिरामिड के आधार, सरलता और आकार का कोई विकल्प नहीं दे पाई है। जब शीर्ष ही आधार को संभाले हुए हो तो फिर पंचायतें गांधी के सामुद्रिक वृत्तों के कहीं भी आसपास फटक नहीं पाएंगी। इस निर्भरता से अंततः वही दुर्घटना घटेगी जिसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने सामाजिक यायावरी कहा है जिसमें समूह के सदस्य उसी काम पर कम चेष्टा करते हैं जिसे वे अकेले शायद ज्यादा अच्छी तरह निपटा देते हैं। यह यायावरी गांधीजी के उस घोषित पंचायती लक्ष्य के विपरीत है जिसमें ग्राम सभाओं को व्यक्तित्व के स्थिरीकरण को सुनिश्चित करना था। यदि ग्राम पंचायतें उस सामूहिकता और शेयरिंग को सुनिश्चित नहीं करतीं तो गांधीजी को सामुदायिक जीवन के क्षरण का ही भय नहीं

था बल्कि व्यक्तित्व ह्रास का भय भी था।

इसमें एक बिंदु शासकीय निवेश के पुर्नचक्रण का भी है। शासन के व्दारा अधिकतर ग्राम पंचायतों को कार्य-विशिष्ट अनुदान दिया जाता है जो 'एक समय का विनियोग' है। उसे पूरा करने के बाद पंचायतें अपने हाथ पुन: फैला देती हैं। क्या पंचायतों को दी गई राशि को बीज-पूँजी की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है? क्या इस राशि का कोई निर्झर-प्रभाव हो सकता है कि पैसा रिवाल्विंग हो। क्या जिस स्थायी सामुदायिक परिसंपत्ति का निर्माण हुआ है, उसे गाँव की इंक्रीमेंटल आय वृद्धि हुई है? और क्या उसके किसी अंश को पैसे / फसल के रूप में ग्राम समुदाय को पुन: लौटाया जा सकता है किसी नई उत्पादनशील सामुदायिक परिसंपत्ति के निर्माण के लिए? क्या किसी संभाव्य आर्थिक आधिक्य में से ग्राम पंचायत का छोटा-सा अंश या स्थान ढूंढा जा सकता है?

फिर भी यह सही है कि पंचायती राज एक ऐसी पश्चिमी दुनिया, जो जार्ज आरवेल[18] के उपन्यास '1984' में बताए उस भविष्य की ओर खिसक जाती है, जिसके दु:स्वप्न कभी काफ्का और मार्कुस ने देखे थे, को भारतीय परंपरा का प्रतिकल्पी उत्तर है। एक रेजीमेंटेड सुपर ब्यूरोक्रेटाइज्ड भविष्य जिसमें औसत आदमी की हैसियत सिर्फ एक कलपुर्जे की है, जिसमें संगठन ज्यादा से ज्यादा बड़े और ताकतवर होते जाएंगे। अपने ही भार से निढाल संगठनों के जवाब में एक गत्यात्मक संस्था के रूप में पंचायतों का विकल्प सामने आया है। बारेन बेनिस ने जब पहले पहल यह घोषणा की थी कि अगले 20 से 50 वर्षो में हम 'नौकरशाही के अंतमें भागीदारी' करेंगे तो उसको स्वप्न में भी ध्यान न होगा कि भारत में उसका अभिप्राय पंचायतों के माध्यम से प्रकट होगा। नौकरशाही की तीनों विशेषताओं -अधिक्रम, स्थायित्व और श्रम विभाजन - को पंचायती व्यवस्था ने प्रतिकल्पी चुनौती दी है। चूँकि वे स्वतंत्र वृत्त हैं, इसलिए अधिक्रम के दबावों से अधिक मुक्त हैं। दूसरे वे स्वयं में ऐसी छोटी-छोटी कोशिकाएँ हैं जो राज्य को खुद के नवीकरण में भी मदद करती रहेंगी। लेकिन इन्हें इस हेतु समर्थ बनाने के लिए जो व्यावहारिक डिटेल्स तैयार किए जा रहे हैं, उन पर काफी बहस की गुंजाइश है।

संविधान ने एक अंतर्वर्ती स्तर की बात भी की थी। ग्राम और जिलास्तर के बीच की। लेकिन दादरा एवं नागर हवेली, दमन और दियू, गोआ, पुदुच्चेरी, मिजोरम, मणिपुर और सिक्किम में यह जनपद स्तर नहीं है। अब देखा जाए तो अशोक मेहता समिति ने भी द्विस्तरीय पंचायती राज, की ही बात की थी. पर संभवत: छोटे राज्यों में द्विस्तर ही पर्याप्त समझे गये हैं. यह महत्व की बात है कि पंचायत की कल्पना संविधान में भी स्व-सरकार संस्था के रूप में की गई थी। यह स्वशासन पंचायत के सभी स्तरों पर होना है चाहे वह दो हो या तीन। यानी बात सेल्फ गवर्नमेंट की है तो वह गवर्नमेंट के पूरे तत्त्वों के बिना कैसे संभव है? मसलन न्यायपालिका किसी गवर्नमेंट का एक बड़ा यंत्र है पर पंचायती व्यवस्था में वह प्राय: गायब है और न्याय पंचायतों के प्रारंभिक प्रयोग अब शान्त हो गये हैं उनके साथ ही हुन्छ-समाधान की देशज और पारंपरिक विधिक पद्धतियाँ ही खत्म नहीं हुई हैं बल्कि समुदायों की विधिक संस्कृति पर एक एकीकृत और निवैयक्तिक न्याय पद्धति ने अपनी अंतिम विजय दर्ज कर ली है। विधिक बहुवचनीयता (लीगल प्लूरलिज्म) का सिद्धांत अब जबकि दुनिया के कई देशों में बल पकड़ रहा है, हमारे यहाँ उस पर कोई चर्चा नहीं हो रही है।

संविधान का अनुच्छेद 243 A जब 73वें संशोधन के जरिए आया था तब उसमें यह कहा गया था कि राज्य स्तर पर विधायिका जो कार्य करती है और जिन ताकतों का इस्तेमाल करती है, उसी तरह से ग्राम स्तर पर वह ग्राम सभा करेगी। पर यह ग्रामसभा स्थानीय अभिप्रेरणाओं और परंपराओं से विकसित पुरानी प्रकृत ग्राम सभा नहीं है। यह एक कृत्रिम आरोपण है जिसे राज्य सरकार के निर्देशों के तहत चार बार आहूत किया जाता है और कई बार तो राज्य सरकार के सर्वोच्च नियंता भू अर्जन के स्वार्थों के चलते स्वयं भी उसे कागजों पर कर लेते हैं. यानी संविधान में जिस सभा को विधायिका का गौरव दिया गया था, उसे व्यवहार में इतना तदर्थ बना दिया गया है। ग्राम सभा की समस्या यह है कि वह एक समूह है पर एक संगठन नहीं है। संगठन में हर सदस्य की एक प्रकार्यात्मक भूमिका होती है और एक विशेष उपयोग भी होता है पर ग्राम सभा के प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में वह सुनिश्चित नहीं होता। इसलिए सदस्य-संपृक्ति, सदस्य - संबद्धता में वो गहराई - और सघनता है ही नहीं। इसलिए ग्राम सभा से नेतृत्व उभर ही नहीं रहा। वह तभी उभरता जब ग्राम सभा एक जैविक (आर्गेनिक) तरह से संचलित होती। भूमिका परिभाषित होने से स्व-सहायता समूह नेतृत्व शक्ति का विकास करने में ज्यादा सफल हुए, ग्राम सभाओं की तुलना में। ग्राम सभाओं को जो विधायी (लेजिस्लेटिव) काम करने थे, वे उनकी जगह राज्य सरकार ने किये। तमाम नियम-उपनियम बना बनाके। इससे उन ग्राम सभाओं को आसानी हुई पर निर्भरता का वही सिंड्रोम कायम रहा।

संविधान ने एक अंतर्वर्ती स्तर की बात भी की थी। ग्राम और जिलास्तर के बीच की। लेकिन दादरा एवं नागर हवेली, दमन और दियू, गोआ, पुदुच्चेरी, मिजोरम, मणिपुर और सिक्किम में यह जनपद स्तर नहीं है। अब देखा जाए तो अशोक मेहता समिति ने भी द्विस्तरीय पंचायती राज, की ही बात की थी. पर संभवत: छोटे राज्यों में द्विस्तर ही पर्याप्त समझे गये हैं. यह महत्व की बात है कि पंचायत की कल्पना संविधान में भी स्व-सरकार संस्था के रूप में की गई थी। यह स्वशासन पंचायत के सभी स्तरों पर होना है चाहे वह दो हो या तीन

संविधान के 73 वें संशोधन ने हालाँकि पंचायतों के प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की थी किंतु इन्होंने राज्यों को यह अधिकार भी दिया था कि वे सरपंचों का जनपद में और जनपद अध्यक्षों का जिला पंचायत में प्रतिनिधित्व करा सकते हैं। द्विस्तरीय राज्यों में तो सरपंचों का प्रतिनिधित्व जिला स्तर पर भी संभव था। पर हुआ कुछ यों है कि कई राज्यों ने इस अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व का कोई उपयोग नहीं किया हालाकि संविधान संशोधन ने यह एक अच्छा विकल्प दिया जिसमें गाँधीजी के सामुद्रिक वृत्तों की तरंगें एक दूसरे को स्पर्शित करतीं। लेकिन अनुच्छेद 243 C (3) स्वयं भी इन तरंगों के स्पर्श को आगे नहीं बढ़ाता था अन्यथा जिला पंचायत अध्यक्षों का एक देशज नीड़ संसद के पास भी बनाया जा सकता था और ग्रामीण मुद्दों की मेन स्ट्रीमिंग की जा सकती थी।

एक प्रश्न आरक्षण का भी है। आरक्षण की जो व्यवस्था 73वें संविधान संशोधन ने सुनिश्चित की, उसमें चक्रानुक्रम है। इसने पंचायत प्रत्याशियों के द्वारा अपने निर्वाचन क्षेत्र का पोषण करने के भाव को शिथिल किया है और एक हद तक उनमें उदासीनता और अनुत्तरदायित्व को भी विकसित किया है। यह चकानुक्रम आरक्षण को प्रतिनिधित्व से (रिप्रेजेंटेशन) समामेलन/एकात्मन (इंटीग्रेशन) की दिशा में ले जाने वाला था और इस रूप में यह विधानसभा / लोकसभा आदि के आरक्षण से चारित्रिक रूप से भिन्न था जिसने आरक्षण के नाम पर तयशुदा राजनैतिक अभिजातों के एक वर्ग को जन्म दिया है। पंचायतों का सांस्थानिक अभिशिल्पन ही इस तरह से किया गया कि एक वैकल्पिक कोटा पद्धति पनपे। इस से राज्य व राष्ट्र को आरक्षित वर्गों में हजारों अपारंपरिक प्रतिनिधि मिले और एक सामाजिक पूंजी का निर्माण हुआ। यह चक्रानुक्रम महिला आरक्षण से संभव हुआ जो स्वयं में बड़ी उपलब्धि थी। आज देश में साढ़े चौदह लाख महिला प्रतिनिधि इस कारण आई। हालांकि संविधान ने एक तिहाई सीटों के लिए आरक्षण का प्रस्ताव किया लेकिन अब तक 21 राज्य और दो केंद्र शासित प्रदेश 50% आरक्षण की व्यवस्था कर चुके हैं। पर चकानुक्रम ने राजनीति को कैरियर बनाने की इच्छा को प्रभावित भी किया है। अब यदि कोई स्त्री चक्रानुक्रम के कारण अगली बार अवसर नहीं पाती है तो वह पुनः अपने चौके-चूल्हे की दुनिया में लौटने के लिए विवश है। इसने पुरुष प्रत्याशियों के भीतर भी अनैश्चित्य के इसी मनोविज्ञान को पनपा दिया है।

पंचायती राज सिर्फ महात्मा गाँधी का स्वप्न नहीं था, वह हमारे राष्ट्र का जिया हुआ यथार्थ है। इतनी सहस्राब्दियों का सच। यदि उसे अंग्रेजों के शासन में विकृत कर दिया गया तो आवश्यकता औपनिवेशिक उत्तराधिकार का बोझ उतारने की है, पंचायती राज को नजरों से उतारने की नहीं। पंचायतों के 2.0 संस्करण की बात यदि सोची जाती है तो हमें यह भी देखना होगा कि पंचायतें किन किन देशज लोक-संस्कारों का वहन करतीं हैं और उनके जरिये स्वयं की पुनर्रचना संभव कर पाती हैं। पंचायतें भारत का आत्म हैं पर स्वयं पंचायतों का आत्म कहाँ है? समय उस आत्म के अन्वेषण का आह्वान करता है।

संदर्भ-

1. सेन गुप्ता भवानी 1979, *सीपीआईएम: प्रॉमिसेज, प्रॉस्पेक्ट्स, प्रॉब्लेम्स;* यंग एशिया पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
2. जार्ज आरवेल के प्रसिद्ध उपन्यास 1984 के 'डबलथिंक' और 'न्यूस्पीक' से उपजी अवधारणा जिसमें व्यक्ति या दल या सरकार के घोषित और वास्तिविक लक्ष्यों के बीच अंतराल रहता है।
3. वेणु चाक्षुष मनु का प्रपौत्र और कुक का पौत्र था जिसने राजा होने पर लोगों के धर्म में बाधा डालना अपना राजकर्म बना लिया था। प्रजा उसके उपद्रवों से त्राहि त्राहि करने लगी थी। नंद या धन नंद सत्ता में मदांध रहकर विद्वानों को अपमानित करने वाला राजा था।
4. एक विदेशी कंपनी, जिसके अकाउंटिंग स्कैंडल प्रसिद्ध हुए, ने भारत के महाराष्ट्र में एक पॉवर प्लांनट के सिलसिले में भारतीय राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों को दिए गए उत्कोच को अपनी अकाउंट बुक्स में 'एजुकेशन मनी' कहा।
5. 'जय यौधेय' राहुल सांकृत्यायन का वह उपन्यास है जो ई. सन् 350-400 के बीच के भारत यौधेय नामक जनराज्य के आंतरिक व्यवस्था को बताता है।
6. 'वैशाली की नगरवधू' में आचार्य चतुरसेन वैशाली गणतंत्र के बारे में बताते हैं जहाँ चुनी हुई राज्यपरिषद थी।
7. मुनरो थामस, *रिपोर्ट फ्रॉम द सीडेड डिस्ट्रिक्ट्स,* 15 मई 1806, 10R/E/4/912 मद्रास डिस्पैचेस, 29 अप्रैल 1814, पृ. 567 पर उदृधृत।
8. मेटकॉफ, चार्ल्स, 1830 के मिनट, *पुनरूदधृत मिनट ऑन द सेटलमेंट ऑफ द वेस्टर्न प्रोविंसेज,* रिपोर्ट फ्राम द सेलेक्ट कमिटी ऑन द अफेयर्स ऑफ द ईस्ट इंडिया कंपनी (1831-1832, III : रेवेन्यू, ऐप्लिकेशन नं. 24 पृ. 331
9. टॉड, जेम्स कर्नल, *एनल्स ऐंड एंटीक्स ऑफ राजस्थान*
10. कोरामिन अस्थमा आदि के उपचार में काम आता है।
11. धर्मपाल, अंग्रेजों से पहले का भारत।
12. प्राचीन भारत की पंचायत व्यवस्था में प्रचलित पंचायती गांवों के नाम।
13. एडुआर्डो गलेनो, *व्हाई आस्क माई नेम,* 1992
14. सड़कों पर मुरम बिछाना।
15. *रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन डीसेंट्रलाइजेशन ऑफ पावर्स (एसबी सेन कमेटी) एसबी सेन कमेटी: सजेशंस फॉर अमेंडिंग केरल पंचायती राज ऐक्ट वॉल्यूम* IA 88.
16. वर्गवाल, गेरिट; *स्ट्रगल ऑफ द पूअर्स: नेबरहुड अर्गनाइजेशंस ऐंड क्लाएंटलिस्ट प्रैक्टिस इन अ क्विटो स्क्वैटर सेटलमेंट*
17. गांधी एम.के., इंडिया ऑफ माई ड्रीम्स, पंचायत राज
18. आरवेल जार्ज :1984 (उपन्यास) : अतिकेंद्रीकरण वाला वह भविष्य जिसमें एक स्वतंत्र एवं मुक्त: समाज प्रचार निगरानी और सत्य-निषेध के जरिए नष्ट किया जाता है।

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

प्रभात

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

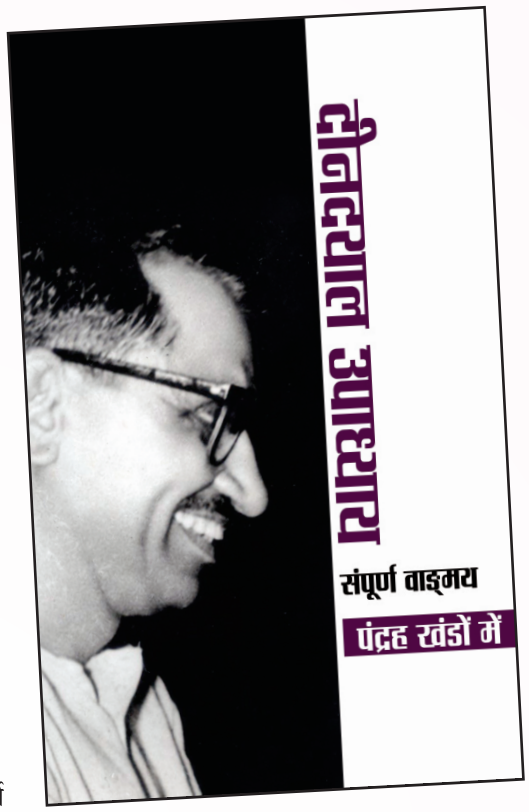

संपादक मंडल

• प्रो. देवेंद्र स्वरूप • श्री रामबहादुर राय • श्री अच्युतानंद मिश्र • श्री जवाहरलाल कौल
• श्री नंदकिशोर त्रिखा • श्री के.एन. गोविंदाचार्य • श्री ब्रजकिशोर शर्मा • डॉ. विनय सहस्रबुद्धे
• श्री अशोक टंडन • डॉ. सीतेश आलोक • श्री आलोक कुमार • श्री बलबीर पुंज
• डॉ. चमनलाल गुप्त • डॉ. भारत दहिया • श्री बनवारी • श्री हितेश शंकर • श्री प्रफुल्ल केतकर
• डॉ. रामप्रकाश शर्मा 'सरस' • श्री अतुल जैन • डॉ. राजीव रंजन गिरि • डॉ. वेद मित्र शुक्ल
• श्री राहुल देव • श्री उमेश उपाध्याय • श्री जगदीश उपासने • श्री सुशील पंडित
• श्री ज्ञानेंद्र बरतरिया • श्री भरत पंड्या • श्री मुज़फ़्फ़र हुसैन • श्री प्रभात कुमार • श्री स्वदेश शर्मा

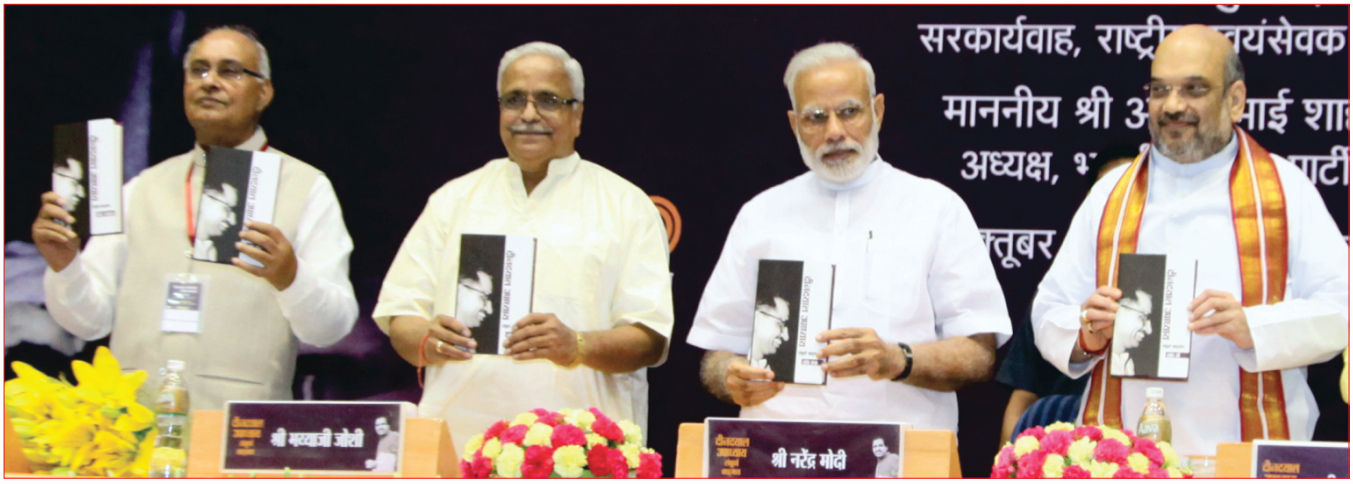

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

''यह पंडितजी की जीवन-यात्रा, विचार-यात्रा और संकल्प-यात्रा की त्रिवेणी है। यह दिन इस त्रिवेणी का प्रसाद लेने का दिन है। पं. दीनदयाल उपाध्यायजी कहा करते थे कि अपने सुरक्षाबलों को मजबूत किए बिना कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता, इसलिए सुरक्षा-तंत्र मजबूत होना ही चाहिए। पंडितजी द्वारा कही गई बातें आज भी इतनी ही प्रासंगिक हैं।''

–श्री नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री, भारत

''विचारों का छोटा सा बीज पं. दीनदयालजी ने बोया था, आज वह वटवृक्ष के रूप में खड़ा होकर न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में अग्रसर है। उनका साहित्य उनकी सरलता, दूरदर्शिता और संकल्पशक्ति का परिचय कराएगा।''

–श्री अमित शाह, राष्ट्रीय अध्यक्ष, भाजपा

प्रभात प्रकाशन

ISO 9001:2008 प्रकाशक

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23257555

E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✣ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन

अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

☎ 011-23210074

इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

भारतीय संविधान पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

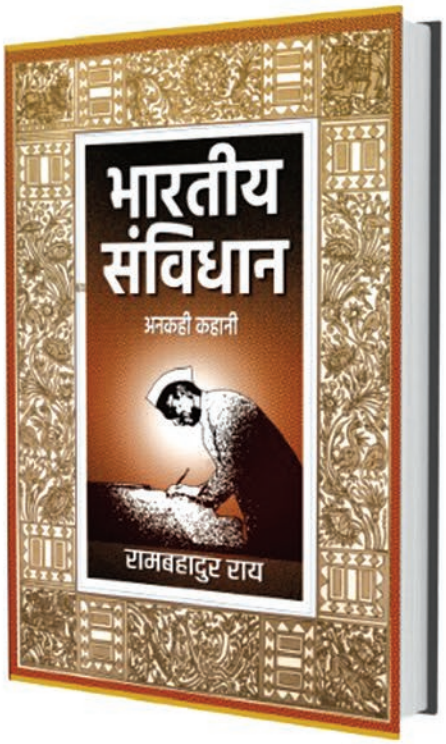

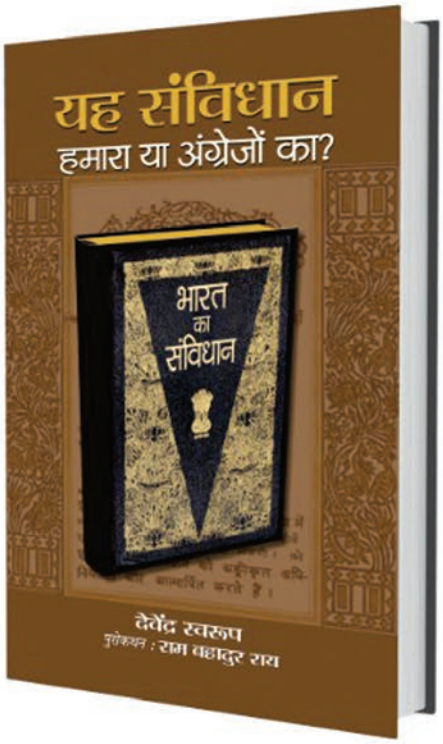

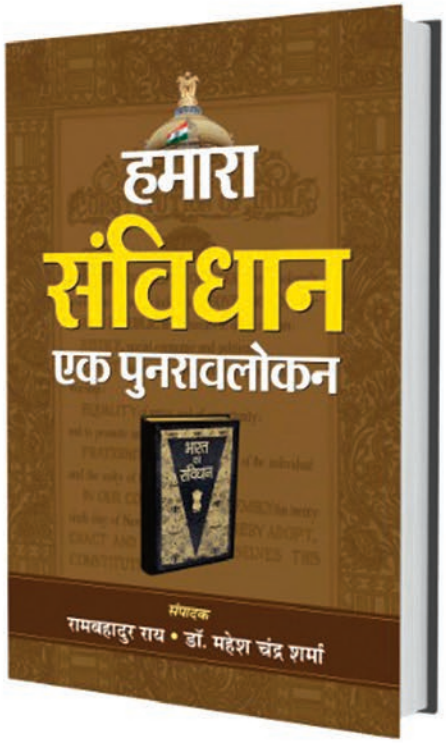

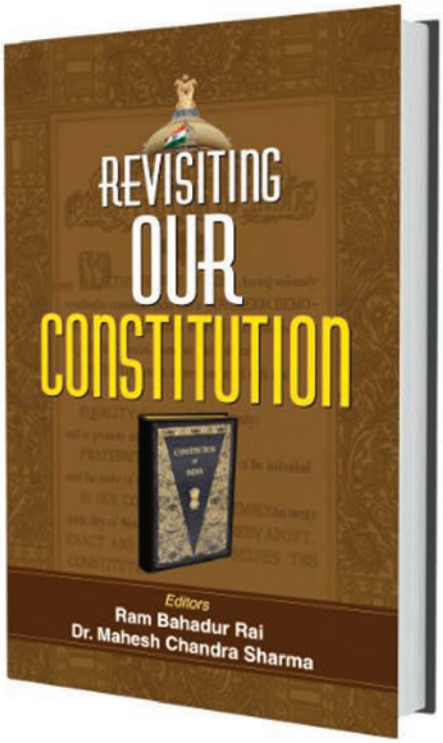

7000 से अधिक पुस्तकों का विस्तृत सूची-पत्र निशुल्क पाने के लिए लिखें—

पोस्टेज फ्री

हेल्पलाइन नं. 7827007777

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2015 प्रकाशक

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23289777

E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✣ Website : www.prabhatbooks.com ✣ www.facebook.com/prabhatprakashan